अहिंसा की शक्ति

श्री रिचर्ड बी. ग्रेग की The Power of Non-Violence

का रूपांतर

रूपांतरकार

श्री गोपीकृष्ण विजयवर्गीय

१९५१

सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री
सस्ता साहित्य मंडल
नई दिल्ली

दूसरी बार १९५१

मूल्य
डेढ़ रुपया

मुद्रक
धीरूभाई दलाल
एसोसियेटेड ऐडवर्टाइज़र्स एण्ड
प्रिन्टर्स लिमिटेड, बम्बई ७।

विषय-सूची

अहिंसा की शक्ति

: १ :

अहिंसात्मक प्रतिरोध के आधुनिक उदाहरण

अहिंसात्मक प्रतिरोध के सफल उपयोगों के भिन्न-भिन्न देशों में और भिन्न-भिन्न समयो पर अनेक उदाहरण हुए हैं। चूंकि इतिहासकारों की दृष्टि राजनीति और युद्धों की ओर अधिक रहती है, इसलिए उन्होंने इन भिन्न प्रकार की घटनाओं की ओर बहुत थोड़ा ध्यान दिया है, और कई घटनाओं के तो सम्बन्धित कागज़ात ही नष्ट हो चुके हैं। कुछ उदाहरणों मे अहिसात्मक प्रतिरोध व्यक्तियो ने किया है और कुछ उदाहरण ऐसे हुए हैं जिनमें उसका स्वरूप सम्मिलित या सामूहिक था। सामूहिक स्वरूप कम दृष्टिगोचर हुआ है, किन्तु उसका महत्त्व अधिक है। इसी कारण से, और चूकि यह पुस्तक मुख्यतः इतिहास-ग्रंथ नही है इस कारण से भी मैं दूसरे स्वरूप के ही कुछ बड़े-बड़े आधुनिक उदाहरणों का यहां जिक्र करूंगा। किंतु मैं उन पुस्तकों का हवाला भी दे दूगा, जिनमें दोनों प्रकार के उदाहरणो का वर्णन है।

सबसे पहले हम उस उदाहरण को लेते है जो उन्नीसवी शताब्दी के मध्य में हंगरी देश में घटित हुआ। सम्राट् फ्रांज जोसेफ, आस्ट्रिया और हंगरी दोनो देशो के संघ-सम्बन्धी शर्तों के विरुद्ध, हंगरी को आस्ट्रियन सत्ता के अधीन करने का प्रयत्न कर रहा था। हंगरी के नरम-दलीय लोग निःसहाय से हो रहे थे ; क्योंकि उनमें लड़ने की शक्ति नही थी। किंतु हंगरी के फ्रासिस डीक नामक एक कैथोलिक भूमिपति ने उनसे कहा, 'खेद है कि तुम्हारे कानून तोड़े जारहे हैं, और फिर भी तुम्हारे मुह बन्द हैं। उस जाति को धिक्कार है कि जो अपन अधिकारों के अपहरण पर भी विरोध की आवाज खड़ी नहीं करती। चुप रह

कर तो वह अपनी गुलामी को ही बढाती है। जो जाति बिना विरोध के अन्याय और अत्याचार को सहन कर लेती है वह नष्ट हो जाती है।'

डीक ने हंगरी द्वारा अपने स्वतंत्र शिक्षण, कृषि और उद्योग-धंधे चालू करने, आस्ट्रियन सरकार को मानने से हर प्रकार से इन्कार करने और आस्ट्रियन वस्तुओ के बहिष्कार करने की योजना प्रारंभ की। उसने लोगों को सावधान किया कि वे किसी प्रकार भी बल-प्रयोग या हिंसा के कामों में न पड़ें, और न कानून के दायरे को ही छोड़ें। उसने कहा, 'यही ऐसा सुरक्षित मोर्चा है, जिस पर निहत्थे होते हुए भी हम लोग हथियारबंध फ़ौजों के मुकाबले में डटे रह सकते हे। यदि कष्ट-सहन करना अनिवार्य है, तो शान के साथ करना चाहिए।' सारे हंगरी प्रदेश में इस सलाह पर लोगों ने अमल किया।

जब आस्ट्रिया के कर वसूल करने वाले कर्मचारी आये तो हंगरी-वासियों ने उन्हे मारा नही, न उन्हें चिढ़ाया—उन्होने सीधी तरह से कह दिया कि हम टैक्स नही देते। इस पर आस्ट्रियन पुलिस ने उनका सामान छीन लिया, किन्तु पुलिस को नीलाम करने वाला कोई भी हंगेरियन न मिला। जब आस्ट्रियन नीलाम करनेवाला लाया गया तो उसे मालूम हुआ कि बोली लगाने वाले भी आस्ट्रिया से लाने पड़ेंगे। सरकार को शीघ्र ही अनुभव हो गया कि माल की कुर्की और नीलाम में ही टैक्स की रकम से ज्यादा खर्च पड़ जाता है।

आस्ट्रियनो ने हगेरियनो के स्थानों पर और उनके ही खर्च पर अपने सिपाही रख देने का यत्न किया। इस आज्ञा का हंगेरियनों ने क्रियात्मक विरोध नही किया, किंतु जब आस्ट्रियन सिपाहियों ने देखा कि जिन मकानो मे वे रहते हैं, वहां प्रत्येक आदमी उनसे घृणा करता है, तो उन्होने स्वयं ही वहां अपने रखे जाने का विरोध किया। आस्ट्रि-यन सरकार ने आस्ट्रियन वस्तुओं के बहिष्कार को ग़ैर-कानूनी घोषित किया, किन्तु हंगेरियनो ने इस आज्ञा का भंग किया। जेलें ठसाठस भर गईं। सम्राट् की पार्लमेंट मे भी हगरी के कोई प्रतिनिधि नहीं बैठते थे।

इसके बाद आस्ट्रियनों ने मेल की नीति का अमल शुरू किया। कैदी छोड दिये गये और आंशिक स्व-शासन दिया गया। किंतु हंगरी ने अपने सम्पूर्ण अधिकारों की माग की। इसके जवाब में सम्राट् ने लाजिमी फ़ौजी सरविस का हुक्म दिया। हंगेरियनों ने उत्तर दिया कि हम इसको नही मानेगे। अन्त में १८ फ़रवरी १८६७ को सम्राट् झुक गया और उसने हंगरी को उसका पृथक शासन-विधान प्रदान कर दिया।

इस लड़ाई में थोड़ी-सी त्रुटि थी; क्योंकि हंगेरियनों के हृदय में हिंसा का कुछ भाव था। फिर भी, अहिंसात्मक प्रतिरोध की शक्ति का यह अच्छा उदाहरण है, चाहे अहिंसा को समझने और प्रयोग करने में अपूर्णता रही हो।

दूसरा उदाहरण दक्षिण अफ्रीका में घटित हुआ। यह प्रतिरोध १९०६ से आठ वर्ष तक चलता रहा। इससे पहले भारतवासी नेटाल में खानो आदि के काम के लिए मजदूर के रूप में आते रहे थे, और पहले तो इनको यूरोपियन लोगों ने ही जो कि उस देश को उद्योग-धंधों से उन्नत करना चाहते थे बुलाया था। हज़ारों भारतवासी शर्तबन्द मजदूर बनकर आये, जिनकी नौकरी की मियाद ५ वर्ष की थी। वे परिश्रमी थे, खेती और व्यापार में लग गये, और इस प्रकार यूरोपियनों के साथ मुकाबला करने लगे। १९०६ में यह स्थिति थी कि करीब १२,५०० भारतीय ट्रासवाल की सीमा में जाकर वहां भी बस गये थे। उनपर अनेक अन्यायपूर्ण कानून लग गये थे। १९०६ में ट्रांसवाल की सरकार ने धारासभा में एक ऐसा कानून पेश किया, जिसके द्वारा भारतीयों से, जरायमपेशा लोगो की भाति, अगूठों के निशान कराये जाकर उनकी रजिस्ट्री की जाती, और किसी भी समय कोई भी पुलिस अफ़सर उनसे रजिस्ट्री का सर्टिफिकेट माग सकता था। यदि कोई भारतीय रजिस्ट्री न कराता तो उसका निर्वासन हो सकता था, और यदि कोई सर्टिफिकेट न दिखा सकता तो उसपर जुर्माना हो सकता था।

भारतीयों पर हमेशा से कड़े बन्धन लगे रहे थे, किन्तु इस कानून से तो उनपर पूरी ग़ुलामी लद जाती और सम्भवतः एक जाति के

रूप में उनका विनाश ही हो जाता। उन्होंने मोहनदास करमचंद गांधी नामक एक भारतीय वकील के नेतृत्व मे विरोध सभाएं की और बिल के विषय मे अपनी बात सुने जाने की मांग की। किंतु ट्रांसवाल सरकार ने एक न सुनी और कानून पास कर दिया। इस पर एक विशाल सार्वजनिक सभा में प्रमुख भारतीयो ने यह शपथ ली कि वे रजिस्ट्री हरगिज़ न करायेंगे, और इस कानून को मान लेने के बजाय जेल जाना अधिक पसंद करेंगे; क्योकि उन्होने इस कानून की धाराओ को अपने धर्म, अपने राष्ट्रीय स्वाभिमान, अपने जातीय आत्म-सम्मान और मनुष्यत्व पर आघात समझा।

वे अपने निश्चय पर डटे रहे और गांधीजी तथा कई और लोग जेल चले गये। इस पर प्रधान मंत्री जनरल स्मट्स ने कहा कि यदि भारतीय स्वेच्छा से रजिस्ट्री करा लेंगे तो मैं इस कानून को रद्द करवा दूंगा। भारतीय लोग राज़ी होगये और उन्होंने अपनी ओर से समझौते का पालन कर दिया; किंतु जनरल स्मट्स ने अपना वादा पूरा न किया। इतना ही नहीं, सरकार ने एक और बिल पेश कर दिया जिसके अनुसार जिन एशियावासी लोगों ने स्वेच्छा से रजिस्ट्री नही करवाई थी उन सब पर रजिस्ट्री का पिछला कानून लागू कर दिया गया। इस पर भारतीयों ने फिर लड़ाई चालू करने का निश्चय किया।

उसके कुछ समय बाद ही ट्रांसवाल की सर्वोच्च अदालत के एक यूरोपियन जज ने एक ऐसा अदालती फैसला किया कि जिसके द्वारा समस्त हिंदू और मुस्लिम विवाहों को नाजायज़ करार दिया गया, और इस प्रकार सारे हिंदुस्तानी बालक नाजायज़ होगये और उन्हें संपत्ति का उत्तराधिकार पाने का हक़ न रहा। इससे सारी भारतीय महिलाओं में बड़ा जोश पैदा हुआ। गांधीजी की सलाह से बहुत-सी भारतीय स्त्रियों ने ट्रांसवाल की सीमा पार करके नेटाल मे प्रवेश किया, जो कि कानूनन जुर्म था और नेटाल की खानों पर पिकेटिंग शुरू किया, जहां कि भारतीय मज़दूर काम करते थे। स्त्रियां तो गिरफ़्तार कर ली गईं, किंतु पुरुष जिनकी संख्या लगभग ५००० थी, विवाह-संबंधी इस अदालती फ़ैसले के विरुद्ध

और गुलामी की स्थिति में रखने वाले एक भारी टैक्स के विरोध में सब-के-सब एकदम हड़ताल करके खानों से बाहर निकल आये। गांधीजी के नेतृत्व मे, अहिंसात्मक विरोध के रूप में, उन्होंने पैदल जत्था बना कर ट्रांसवाल की सीमा में कूच करना शुरू किया। बिना इजाज़त किसी ओर भी सीमा पार करना भारतीयों के लिए अपराध था।

गांधीजी ने कूच के कई दिन पहले सरकार को इस योजना की सूचना दे दी थी और कानून के रद्द करने की प्रार्थना की थी, और रवाना होने से ठीक पहले भी सूचना दे दी थी, किन्तु उसका कोई परिणाम न हुआ।

लगभग ४००० भारतीयों ने कूच किया। वे प्रतिदिन २५ मील चलते थे, और भारतीय व्यापारियों की आर्थिक सहायता पर गुज़र करते थे। इस कूच में गाधीजी तीन बार गिरफ्तार हुए, दो बार ज़मानत पर छूटे और अंत में जेल में डाल दिये गये। सीमा पार कर ली गई थी और जत्थे का कूच जारी था। उसका नेता नहीं रहा था, किंतु फिर भी वह अहिंसात्मक था। अंत में सब गिरफ्तार कर लिये गए और रेल से नेटाल ले जाये गए। उन्होंने अपना उद्देश्य, जो जेल में डाल दिया जाना और प्रभावशाली विरोध प्रकट करना था, पूरा कर दिया।

वे खानों में बंद कर दिये गए थे, पीटे गये थे और उनके साथ दुर्व्यवहार किया गया था। फिर भी वे दृढ और अहिंसात्मक रहे। इस जंगली व्यवहार पर दक्षिण अफ्रीका और भारत दोनों देशों में लोकमत का एक ज़बर्दस्त तूफ़ान उठ खड़ा हुआ। भारत के वायसराय लार्ड हार्डिंज ने मद्रास के एक सार्वजनिक भाषण में अहिंसात्मक प्रतिरोध करने वालों की प्रशंसा की तथा उनका समर्थन किया, और दक्षिण अफ्रीका यूनियन की सरकार के कार्यों का विरोध किया। श्री सी. एफ. एण्ड्रयूज और श्री डब्ल्यू. डब्ल्यू. पियर्सन भारतीय जनता की प्रार्थना पर वहां गये। बाद में वायसराय ने भारत सरकार का प्रतिनिधित्व करने के लिए सर बेंजमिन राबर्टसन को भेजा। किंतु विरोध-प्रदर्शन करने वाले

भारतीयों की ओर से बातचीत करने की बागडोर बिल्कुल गांधीजी के हाथ में रही।

जनरल स्मट्स ने यह समझ कर कि अब उनका झुकना जरूरी है, सरकार की शान बचाने के लिए एक जांच कमेटी मुकर्रर की। भारतीयों ने मांग की कि सद्भावना का प्रमाण देने के लिए जांच कमेटी में भारतीय सदस्य भी मुकर्रर होने चाहिए। जनरल स्मट्स ने इस बात से इन्कार कर दिया। इसलिए गाधीजी ने लड़ाई फिर शुरू करने की तैयारी की।

उसी समय दक्षिण अफ्रीका में रेलवे के यूरोपियन कर्मचारियो ने हड़ताल की। गांधीजी ने देखा कि इस समय सरकार बड़ी विकट परिस्थिति में है, किन्तु उन्होंने वीरतापूर्वक इस घटना का लाभ न उठा कर रेलवे हड़ताल चलने तक भारतीयों की लड़ाई स्थगित कर दी। इस कार्य से भारतीयो की बडी तारीफ़ हुई।

रेलवे-हड़ताल की समाप्ति के बाद जनरल स्मट्स ने झुक जाना जरूरी समझा और भारतीयो की बड़ी-बड़ी मागें मंज़ूर कर ली गईं। रजिस्ट्री के कायदे का रद्द होना, तीन पौंड प्रति व्यक्ति के कर का मसूख होना, विवाहो का जायज़ होना, शिक्षित भारतीयो के प्रवेश का अधिकार और मौज़ूदा कानूनों का न्यायपूर्ण प्रयोग—ये सब बातें मान ली गईं। इस तरह सारी लड़ाई अहिंसात्मक प्रतिरोध द्वारा जीती गई।

इस सिद्धांत का एक प्रयोग १९१७ में उत्तर भारत के बिहार प्रांत में चम्पारन ज़िले के नील के काश्तकारो के लिए किया गया। वहां ऐसा कानून था कि कृषकों को अपनी सारी ज़मीन के $\frac{3}{20}$ भाग में नील की खेती करनी पड़ती थी, और निलहे गोरो द्वारा और भी कई अत्याचारपूर्ण लागें उन पर लगी हुई थी। गाधीजी को, जो १९१४ में भारत में आगये थे, चम्पारन में इसलिए बुलाया गया कि वे नील के खेतों में काम करनेवाले काश्तकारों की हालत और मालिकों के व्यवहार की जांच करें। उन्होंने प्रकाशन न करते हुए जांच शुरू की, लेकिन निलहे गोरों को उनकी कार्रवाई बुरी लगी और उन्होंने वहांके ज़िला

मजिस्ट्रेट को इस बात पर सहमत कर लिया कि गांधीजी के वहां रहने से ज़िले की शान्ति का भग होता है। गांधीजी के नाम मजिस्ट्रेट ने एक नोटिस जारी किया कि तुम सबसे पहली गाड़ी से ज़िले से बाहर चले जाओ। गांधीजी ने जवाब दिया कि मै कर्त्तव्य-पालन की भावना से आया हू, मै सावधानी और शांति के साथ वाकयात की जांच करने के सिवा और कुछ नहीं कर रहा हूं, मै ज़िले में रहूंगा, और यदि आवश्यक होगा तो आज्ञा-भग करने की सज़ा भी भुगत लूगा।

इसके बाद वह और उनके साथी चुपचाप किसानों के बयान लिखने लगे। किसान बड़ी संख्या मे आते और अपनी तकलीफ़ें बताते थे। ठीक और सही बात जाचने के लिए गवाहों से सवाल भी किये जाते थे। सरकार ने पुलिस अफ़सर भेजे जो इस कार्रवाई के समय मौजूद रहते थे और जो कुछ होता था उसके नोट लेते जाते थे। गाधीजी और उनके अनेक साथियों ने यह व्यवस्था की थी कि यदि वे जेल भेज दिये गये या निर्वासित कर दिये गए तो उनके दूसरे दो साथी किसानो के बयान लेते रहेगे, और यदि वे गिरफ्तार कर लिये गए तो फिर दूसरे दो व्यक्ति काम करते रहेंगे। इस प्रकार क्रम जारी रहेगा।

गांधीजी अदालत में बुलाये गए और उनपर मुकदमा चलाया गया। उन्होंने अपराध स्वीकार कर लिया और बयान दिया कि मेरे सामने कर्त्तव्यों का संघर्ष है। मै कानून को मानू या हृदय की प्रेरणा और सेवाधर्म को मानू, जिसके लिए मै यहा आया था। इस परिस्थिति में मैंने अपनेको यहासे हटाने की ज़िम्मेवारी सरकार पर छोड़ दी है। मजिस्ट्रेट ने अपना फ़ैसला स्थगित रखा और फ़ैसला होने से पहले ही लेफ्टिनेंट गवर्नर ने हुक्म दे दिया कि गांधीजी को जाच जारी रखने की इजाज़त दे दी जाय। इसके बाद प्रात के गवर्नर ने इस मामले में दिलचस्पी ली और गाधीजी से सलाह करने के बाद एक सरकारी जांच-कमीशन कायम किया, जिसके गाधीजी भी एक सदस्य बनाये गए। कमीशन ने एकमत होकर रिपोर्ट की कि कानून अन्यायपूर्ण था और बड़े ज़मीदारों की लागें अनुचित थी। कानून मंसूख कर दिया गया और

किसानों को न्याय प्राप्त हुआ। इस लड़ाई का उद्देश्य केवल आर्थिक था इसमें कोई भी राजनीतिक बात शामिल न थी।

एक अहिंसात्मक लडाई दक्षिण भारत के त्रावनकोर राज्य के वायकोम ग्राम में हुई। इसका उद्देश्य सामाजिक न्याय प्राप्त करना था। इस लड़ाई का सचालन भी गाधीजी ने अपने कुछ अनुयायियो द्वारा किया। वायकोम के आस-पास की नीची भूमि में ग्राम के अंदर से और ब्राह्मणों की बस्ती और एक मदिर के पास से जाती हुई एक सड़क थी। शताब्दियों से ब्राह्मणो ने इस सड़क पर किसी अछूत को चलने नहीं दिया था। गाधीजी के अनुयायियो ने निश्चय किया कि इस कुप्रथा का अंत होना चाहिए। गाधीजी सैकड़ों मील दूर बीमार पड़े हुए थे, किंतु कई नवयुवक सामने आये, उन्होंने लड़ाई की योजना के बारे में उनसे परामर्श किया। जैसे-जैसे लडाई चलती गई, गांधीजी बीमारी की हालत में भी पत्रो और तारों द्वारा बराबर हिदायतें भेजते रहे। बाद में वह स्वयं भी वायकोम पहुचे।

नेताओं ने लड़ाई इस तरह शुरू की। उन्होने कई अछूत मित्रों को अपने साथ लिया, सडक पर रवाना हुए और ब्राह्मण बस्ती में प्रविष्ट हुए। प्रवेश करते ही ब्राह्मणों ने उन्हें पीटा और उनमे-से एक को सख्त चोट आई। किंतु नवयुवक सुधारकों ने बदले में प्रहार नही किया। इस पर पुलिस ने मदाखलत की प्रेरणा करने के अपराध में इनमें-से कई नवयुवकों को गिरफ्तार कर लिया। उन्हें भिन्न-भिन्न अवधि की, एक साल तक की, सजायें हुई। फ़ौरन ही गिरफ्तार किये हुए व्यक्तियों की जगह लेने के लिए सारे देश से स्वयंसेवक धड़ाधड़ आने लगे। राज्य ने गिरफ्तारी करने की तो मनाई कर दी, किंतु पुलिस को हुक्म दिया कि सड़क पर सुधारकों को प्रवेश करने से रोका जाय। पुलिस ने अपनी पंक्ति बना ली और सड़क रोक ली। इसपर गांधीजी की हिदायत से पुलिस की बाधक पंक्ति के सामने सुधारक भी प्रार्थना की मुद्रा में खड़े हो गए। उन्होंने अपने विभाग करके छः-छः घंटे खड़े रहने की पारी बना ली। उन्होंने पास में ही एक झोंपड़ी भी बना ली। वे अपनी पारी

का कार्य धार्मिक आधार पर करने लगे। जब वे कार्य-स्थान पर नहीं होते थे तो चर्खा कातते थे। उन्होंने कभी बल-प्रयोग नहीं किया।

यह कार्य-क्रम महीनों तक चलता रहा। गाधीजी ने उनसे कहा कि यह कार्य अनिश्चित काल तक चलता रहना चाहिए, जबतक कि ब्राह्मणो के दिल न पिघल जायें। अंत मे बरसात के दिन आगये, और चूंकि वह स्थान नीची भूमि पर था, वहां पानी भर गया। फिर भी स्वयंसेवक खड़े रहे। कभी-कभी तो पानी उनके कंधों तक होता था। पुलिसवालो ने छोटी-छोटी किश्तियों में बैठकर अपनी पंक्ति कायम रखी। इस समय पारी घटाकर तीन घंटे की कर दी गई।

इस बीच सारे भारत में इस मामले पर गरमागरम विवाद होता रहा। अंत में सुधारकों के कष्ट-सहन और पूर्ण अहिसा ने ब्राह्मणों की जिद को झुका दिया। १ वर्ष ४ महीने बाद सन् १९२५ में उन्होने कह दिया कि 'जो प्रार्थना हमसे लगातार की गई है, उसका विरोध अब हम नही कर सकते, हम अब अछूतों को आने देने के लिए तैयार हैं।' ब्राह्मणों ने प्रत्येक जातिवालों को आने की अनुज्ञा दे दी। अब अछूत लोग ब्राह्मणों की बस्ती और मदिर के पास से आ-जा सकते थे।

इस नीति-परिवर्तन का सारे भारत में प्रभाव पड़ा, और इससे देश के दूसरे स्थानों में अछूतों पर जहां इसी प्रकार की बाधाएं थी उन्हें दूर करने और समाज-सुधार के कार्य में सहायता पहुँची।

एक और अहिंसात्मक प्रतिरोध की सफल लड़ाई, जो कि आर्थिक न्याय प्राप्त करने के लिए थी, हिमालय प्रदेश में शिमला के उत्तर में कोटगढ नामक एक छोटे-से जिले में हुई, जिसकी आबादी कुछ ही हजार थी। यह जिला हिंदुस्तान और तिब्बत के बीच की सड़क पर है। चूंकि वहां के दृश्य बहुत सुन्दर है, और शिकार खेलने का अच्छा स्थान भी पास ही है, इसलिए उधर शिकारी और सरकारी अफ़सर प्रायः आया करते थे।

बरसों से उधर बेगार का रिवाज था। कोई भी सरकारी अफ़सर या यूरोपियन यात्री सड़क-किनारे के गांवों के मुखिया द्वारा अपना सामान

उठाने या पत्र भेजने के लिए बहुत ही कम मजदूरी पर चाहे जितने आदमी चाहे जितने समय तक के लिए ले सकता था। यात्री को यदि दूध की आवश्यकता होती तो लोगों को डाकबंगले पर अपनी गायें ले जानी पड़ती और दूध निकाल कर देना पड़ता, और उसके दाम भी बहुत कम मिलते थे। इस तरह सडक पर यात्रा करने वाले किसी भी यूरोपियन की मर्जी पर आवश्यकता से अधिक किसान अपने किसानी या ज़रूरी काम से छुड़ाकर बुला लिये जाते थे।

एक हिन्दुस्तानी नेता ने इस प्रथा का विरोध किया, किंतु वह फ़ौरन जेल भेज दिया गया और गांववालों को मशीनगन वगैरा की धमकी दी गई। मिस्टर एम. ई. स्टोक्स नामक एक सज्जन ने, जिन्होने उस ज़िले में सेव का बाग़ लगाया था और वही रहते थे, इस अन्याय का संगठित विरोध करने का निश्चय किया। वह गांधीजी के विचारो से सहानुभूति रखते थे। उन्होने अहिसात्मक ढग की योजना बनाई, किंतु इस लडाई में गांधीजी का हाथ न था।

इस आंदोलन का संचालन करने के लिए ज़िले भर की एक छोटी कमेटी या 'पंचायत' बनाई गई, और मिस्टर स्टोक्स उसके प्रमुख सदस्य थे। ज़िले के प्रत्येक ग्राम मे सब लोगों ने अपने-अपने ग्राम-देवता के सामने शपथ ली कि वे पचायत की आज्ञा मानेगे, और सरकार से पंचायत की मार्फ़त ही बातचीत करेंगे।

पंचायत ने सारी स्थिति और अन्यायों की बाबत सावधानी से लिखा हुआ एक लम्बा वक्तव्य तैयार किया और ज़िला कमिश्नर के पास भेजा। उसने कमिश्नर से मिलने की प्रार्थना की, किन्तु कमिश्नर ने उसकी ओर ध्यान न दिया। सब ज़िम्मेदार अफ़सरो को पत्र लिखे गये। पंचायत ने सब पत्रो की नकलें रखीं। बेगारें लेना फिर भी जारी ही रहा। इसके बाद पंचायत ने कमिश्नर को नोटिस दिया कि यदि अमुक तारीख तक बेगार लेना बन्द न किया गया तो सारा ज़िला प्रत्येक प्रकार के बेगारी काम से इन्कार कर देगा।

इस पर सरकार को कुछ करना पड़ा। कमिश्नर शिमला से आया और उसने एक बडी सभा करवाई। उसने धमकियां दीं और हर तरह की कोशिश की कि गांव-गांव और जाति-जाति के बीच फूट पड जाय और पंचायत की शक्ति टूट जाय। किन्तु जिस-जिस आदमी से उसने सवाल किया, उस-उसने कहा कि पंचायत से पूछो। इसके अलावा उन लोगो ने उस सड़क के हिस्से पर यात्रा करने वाले किसी भी सर-कारी अफ़सर या यूरोपियन यात्री को खाना देने या उनका कोई भी काम करने से इन्कार कर दिया।

कुछ हफ्तों में ही नतीजा यह हुआ कि कमिश्नर ने पंचायतवालों की प्रत्येक बात मान ली और उसने सड़क पर हर जगह ऐसे छपे हुए नियम लगवा दिये, जिसमें लिखा था कि गाववालों से अधिक-से-अधिक कितना काम लिया जा सकता है, और उसकी कितनी मजदूरी देनी पड़ेगी। यह लडाई कई महीने चली और किसानो ने ज़रा भी हिंसा नही की। ज़िले के लोगो को इसमें पूर्ण सफलता मिली।

अहिसात्मक प्रतिरोध की एक सफल लड़ाई १९२८ में भारत के बंबई प्रात के बारडोली ताल्लुके में हुई। एक आर्थिक अन्याय को सुधारने के लिए लगभग ८८००० किसानों ने यह लड़ाई लडी थी।

१९१९ के गवर्नमेण्ट आफ इन्डिया बिल के सबंध में मुकर्रर की हुई ज्वाइंट पार्लमेंटरी कमेटी के परामर्श और बंबई प्रात की सन् १९२४ की लेजिस्लेटिव कौसिल के एक प्रस्ताव के विरुद्ध बम्बई प्रांत की सरकार ने किसानो पर टैक्स बहुत बढ़ा दिया, जो कहने को तो २२ फ़ीसदी बढा था, किन्तु वास्तव में कही-कही ६० फ़ीसदी तक बढ़ाया गया था। किसानो का कहना यह था कि कर-वृद्धि के संबंध में जो जांच की गई है वह नाकाफी है और टैक्स अफसर की रिपोर्ट गलत है और लापरवाही से तैयार की गई है; और कर का बढ़ाना अनुचित और अन्यायपूर्ण है। उन्होंने गवर्नर से मांग की कि सारी शहादत की पूर्ण खुली जांच करने के लिए एक स्वतंत्र और निष्पक्ष जाँच कमेटी कायम की जानी चाहिए। इस प्रार्थना पर सरकार ने कोई ध्यान न दिया। इस पर अपने इरादे के नोटिस के बाद, सारे ताल्लुके के किसानों ने

कर देना बंद कर दिया। स्थानीय लोगों की प्रार्थना पर इस आन्दोलन का नेतृत्व, गांधीजी की सलाह और प्रेरणा लेते हुए, श्री वल्लभभाई पटेल ने किया। श्री पटेल ने किसानों के प्रतिनिधियों को बुलाया और कई बार उनसे परामर्श किया, जिनमें आधे से ज्यादा गांवों के और हर जाति और धर्म के प्रतिनिधि शामिल हुए थे। इन प्रतिनिधियों से बड़ी बारीकी से प्रश्न पूछे जिससे कि उनके निश्चय और दृढ़ता का पता लग सके और मालूम हो सके कि ताल्लुके भर के ग्रामों में एकता रखने और टिके रहने की कितनी शक्ति है। उन्होंने उन्हें उस मामले का इतिहास, उनके कानूनी अधिकार और उनकी मागों का औचित्य समझाया। उन्होंने गाववालों को पूरी तरह और साफ-साफ समझा दिया कि सरकार क्या-क्या कार्रवाई और दमन कर सकती है। उन्होंने यह भी कहा कि संभव है कि लड़ाई अनिश्चित काल के लिए लम्बी हो जाय। उन्होंने उन्हें पूरी तरह सोचने, आने वाली कठिनाइयों पर विचार करने और आपस में सलाह करने के लिए कई दिन का समय दिया। इसके बाद गांववाले और भी बड़ी संख्या में इकट्ठे हुए, और फिर वाद-विवाद करने के पश्चात् लड़ाई शुरू करने का उन्होंने निश्चय कर लिया।

उस जिले में कई साल से चार या पांच सेवा-केन्द्र या आश्रम चल रहे थे, जिनका संचालन अच्छे मजे हुए अनुशासन-बद्ध कार्यकर्ता करते थे। इनसे संगठन का प्रारम्भ हुआ। जिले भर में उचित स्थानों पर १६ सत्याग्रह-छावनियां स्थापित की गईं और इनमें लगभग २५० कार्यकर्त्ता रख दिये गये। इनके अलावा गांव-गांव में स्वयंसेवक अलग थे। इन स्वयंसेवको का काम था कि सत्याग्रह-संग्राम के समाचार और सूचनायें प्रत्येक गांव से एकत्रित करें और मुस्तैदी से उन्हें प्रतिदिन मुख्य केन्द्र तक पहुचा दें। स्वयंसेवक सब सरकारी कर्मचारियों की कार्रवाईयों पर भी सूक्ष्म दृष्टि रखते थे, और जनता को उनके आने की और उनके इरादे की सूचना दे देते थे। एक समाचार-पत्रिका प्रतिदिन छपती थी और हर गाव में बांटी जाती थी। इस पत्रिका का प्रकाशन यहां

तक बढ़ा कि १० हज़ार प्रतियां ज़िले में बंटती थीं और ४ हज़ार बाहर के ग्राहको को भेजी जाती थी। सरदार पटेल के भाषण भी पुस्तिकाओं के रूप में बाटे जाते थे। पहले महीने मे तो स्वयंसेवको ने एक छपे हुए प्रतिज्ञापत्र पर लोगों के हस्ताक्षर लिये, जिसमें अपने नेताओं के नेतृत्व में रहने, और हर परिस्थिति में सत्य और अहिंसा पर दृढ़ रहने की प्रतिज्ञा थी। लगभग सभी व्यक्तियों ने हस्ताक्षर किये। पुरुषो की भांति स्त्रियो का भी संगठन किया गया और स्त्रियों ने भी पुरुषों की भांति क्रियात्मक भाग लिया।

इस बीच सरदार पटेल ने सरकार से लम्बा-चौड़ा पत्र-व्यवहार किया। उन्होने सरकारी कर्मचारियों को किसानों के पक्ष की न्याय्यता बताई और जनता की स्थिति का स्पष्टीकरण किया। किन्तु सरकारी कर्मचारी नही झुके, और लड़ाई शुरू होगई।

सरकार ने किसानों को कर देने के लिए मजबूर करने के सारे प्रयत्न किये। कुछ लोगों के साथ खुशामद और लालच से काम लिया, कुछ के साथ जुर्मानों, कोड़ो और सज़ाओं से काम लिया। उसने जाति-जाति में फूट पैदा करने का यत्न किया। सरकारी अफ़सरो ने किसानों का सामान छीन-छीन कर नीलाम किया। उन्होने किसानों की बहुत-सी ज़मीन ज़ब्त करा दी, और १४०० एकड़ से अधिक भूमि नीलाम में बेच दी। वे पठानों को ले आये, जिन्होने कि वहांके ग्रामीणों को अपमानित और भयत्रस्त किया। डरकर कमज़ोर पड़ने वाले बहुत थोड़े व्यक्ति निकले। अत्याचार से लोगों की एकता और भी बढ़ गई। जाति-संगठन मज़बूत किये गए। सरकारी प्रतिनिधियों और नीलाम में सामान या ज़मीन खरीदनेवालों के विरुद्ध ज़ोरदार सामाजिक बहिष्कार किया गया। किन्तु सरदार पटेल का कहना था कि बहिष्कार के कारण इन लोगों के लिए खाने-पीने की चीज़ें बन्द न करनी चाहिए।

देशभर में इस आंदोलन का प्रकाशन ज़ोरदार ढंग से हुआ, और लगभग सभी भारतवासियों की सहानुभूति किसानों के साथ हुई। प्रांतीय धारासभा में इस मामले पर पूरी बहस हुई और सरकार के रवैये के

विरोध में धारासभा के कई सदस्यों ने इस्तीफ़े दिये। लंदन में पार्लमेंट तक इस मामले पर बहस हुई।

इस बीच में किसान डटे रहे, और अहिंसात्मक रहे। साढ़े पांच महीने बाद, सरकार को लगभग सारी मांगो को मंजूर करना पड़ा। गवर्नर ने एक जाच-कमेटी मुकर्रर कर दी, जो जमीन जब्त हो चुकी या बिक चुकी थी उसे वापिस दिलाना मजूर किया, और जिन ग्रामीण कर्मचारियों ने इस्तीफे दिये थे उन्हें फिर उनकी जगह पर ले लेना स्वीकार किया। जाच-कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में किसानो की मूल शिकायतो को तत्वतः सही पाया, और सरकार ने जितनी कर-वृद्धि कायम की थी, उससे कम कर-वृद्धि की सिफारिश की। मेरा अनुमान है कि इस निर्णय पर बाद में अमल किया गया होगा।

सामान्य दृष्टि से देखा जाय तो मई १९२६ की ग्रेटब्रिटेन की आम हडताल भी अहिसात्मक प्रतिरोध की एक अच्छी आधुनिक मिसाल है। सरकार की तरफ़ से हिसा की उत्तेजना के काफी कारण होते हुए भी सर्वसाधारण मजदूर क्रिया और भाषा मे पूर्ण अहिसात्मक और व्यवस्थित रहे, और हड़ताल के समय नौ दिन तक आश्चर्यजनक रूप से लगातार प्रसन्नचित्त, अनुशासन-बद्ध, एकतापूर्ण और दृढ रहे। लगभग ३० लाख मजदूर हडताल पर रहे, और सब के दिल में अपने पक्ष के लिए उत्साह और विश्वास था।

जुलाई १९२५ मे जब से ब्रिटिश ट्रेड यूनियन कांग्रेस ने हड़ताल का आदेश दिया था, तबसे उसकी व्यवस्था काग्रेस की जनरल कौसिल ने की थी। यद्यपि जनरल कौसिल के मेम्बर जानते थे कि सरकार और कारखानेदारो ने हड़ताल होने की सूरत में यातायात साधनों के लिए सब प्रबंध सालभर से कर लिया है और यद्यपि वे यह भी जानते थे कि हड़ताल अनिवार्य है, तो भी उन्होंने आगे आनेवाली जटिल समस्याओं के लिए कोई व्यवस्था या योजना नही सोची। वे हड़ताल टालने का अधिक-से-अधिक यत्न करते रहे।

इस लड़ाई के आरंभ से ही सरकार का यह आरोप था कि यह हड़ताल सरकार और शासनविधान को नष्ट करने का क्रान्तिकारी प्रयत्न है। यूनियन के नेताओं ने इस तरह के इरादे से इन्कार किया और उनके तैयारी न कर रखने से तो उनका यह कथन सिद्ध होता था। पहले से तैयारी कर लेने के कारण और पार्लमेण्ट के एक कानून के अनुसार संकटपूर्ण परिस्थिति के घोषित कर देने के कारण सरकार ने खाद्य आदि आवश्यक सामग्री पहुचाने के लिए रेलें व मोटरें चलान के लिए मध्यमवर्ग के काफ़ी लोगों को अपने साथ कर लिया, जिनमे कई शिक्षा-प्राप्त लोग भी थे।

हडताल के तीसरे दिन एक प्रसिद्ध बैरिस्टर सर जॉन साइमन ने पार्लमेण्ट-भवन में कहा कि आम हडताल गैर-कानूनी है, जिन यूनियनों ने इसमे भाग लिया है उनका कोष जब्ती के योग्य है, हर श्रमिक जो ठेके से काम करता था हर्जाने का जिम्मेदार है, और हड़ताल के प्रत्येक नेता से उनकी सम्पूर्ण सम्पत्ति से हर्जाना वसूल किया जाना चाहिए। पाच दिन बाद एक मज़दूर-संबधी मुकदमे के फैसले में जस्टिस एस्टबरी ने सर जॉन साइमन की राय का ही समर्थन कर दिया।

इस कारण से, और योजनाएं न होने, मजदूरों की शक्ति का परस्पर सहयोग या केंद्रीकरण न होने और आतरिक झगड़े होने आदि समस्त कारणों से जनरल कौंसिल की हिम्मत टूट गई। दूसरे दिन अपने साधारण सदस्यो से या उन खानवाले मजदूरों से, जिनकी सहानुभूति मे हड़ताल की गई थी, बिना पूछे जनरल कौंसिल प्रधान मत्री से मिली और बिना शर्त आत्मसमर्पण कर दिया और कह दिया कि हम फ़ौरन हडताल बन्द कर देंगे। उन्होंने हड़ताल खत्म करवा दी। हड़ताली मजदूर अचानक अपने नेताओं के साथ छोड़ देने से बड़े आश्चर्यचकित और क्रुद्ध होगये। इसकी पूर्ण असफलता के कारण मालिकों ने बहुत से मजदूरों को निकाल दिया और मज़दूर यूनियनों के कानूनी अधिकारों और आत्म विश्वास में बड़ी भारी कमी आ गई।

इस तरह इस आम हड़ताल में यद्यपि सामान्य मजदूर प्रायः पूर्णतः अहिंसात्मक थे, किन्तु उनके नेतागण सच्चे अहिंसात्मक प्रतिरोध के मार्ग पर नही थे। नेताओं के दिमाग में या इच्छा में एकता नही थी और वे सचमुच दृढ़निश्चयी भी नहीं थे। प्रतीत होता है कि नेता अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति की हानि सहन करने या हड़ताल के सिद्धांत के लिए जेल जाने के भी इच्छुक नही थे। यूनियन द्वारा अखबारों के चलाने से इन्कार करने का अर्थ यह था कि सत्य के प्रचार के साधन पर आघात पहुंचाया गया, और विरोधियों या जनता के प्रति सम्मान दिखाने से इन्कार किया गया, जिसका परिणाम यह हुआ कि अधिकांश सामान्य मजदूर भी समाचारों से वंचित रह गये। इससे मजदूरों के पक्ष में मध्यम वर्ग के समर्थन के संगठित होने में भी बाधा पहुची। खानवाले मजदूरों के एक नेता ने अपने भाषण में कई असत्य बातें कही, और कई सम्बन्धित तथ्यों को छिपाया, और प्रकट किया कि उनके हृदय के भीतर बहुत क्रोध, घृणा और हिंसा भरी है। अन्त में जनरल कौंसिल के बयानों में भी सत्य बातों के छिपाने की कुछ कोशिश थी। जनरल कौंसिल का प्रतिरोध भी हार्दिक नहीं था। अनिच्छापूर्ण बन्दर घुड़की थी। और उसमें सच्ची अहिंसा के आन्तरिक तत्व नही थे।

अक्तूबर १९३४ में हंगरी के एक नगर 'पेक्स' में १२०० खनिकों ने अधिक काम मिलने और हफ्ते में १४ शिलिंग के बराबर मजदूरी दिये जाने के लिए हड़ताल की। मन्दी के कारण उस समय खानो में काम हफ्ते में सिर्फ ३ दिन चलता था, उससे पिछले साल में ही मजदूरों की मजदूरी में ८ फ़ीसदी का कटोतरा हुआ था, और पतझड़ के मौसम का उनका बोनस भी आशा से बहुत कम निकला था।

रूटर और एसोसिएटेड प्रेस के समाचारों के अनुसार, खनिकों ने खानों के भीतर से ही हड़ताल कर दी, खानों से बाहर निकलने से इन्कार कर दिया, और कहा कि यदि उनकी मागें मंजूर न होगी तो वे वहीं भूखों मर जायंगे। दो दिन की हड़ताल के बाद ही उनमें-से ४४ आदमी ऊपर लाये गये, जो भूखे, प्यासे और कमज़ोर थे, कुछ बेहोश थे, कोई-कोई पागल-से होगये थे, और कई तो मरणासन्न थे। हंगरी

की सरकार ने पेक्स के क्षेत्र को 'खतरे का स्थान,' घोषित कर दिया और जगह-जगह पुलिस नियुक्त कर दी। उसने बीच में पड़ने और मजदूरों से समझौता करने की कोशिश की, किन्तु वह असफल रही।

खनिकों ने ऊपर इस प्रकार के संदेश भेजे–"यदि आप अभी यह वचन नहीं देते कि हमारी सारी मागें पूरी हो जायंगी, तो आप से आगे समझौते की बातचीत चलाना बेकार है, धीरे-धीरे भूखों मरने के बजाय तो हम अपना दम घोंटकर स्वयं आत्महत्या कर लेंगे। ...." "हम हंगरी निवासी हैं, और इसीलिए हमें आशा है कि हमारे देशवासी इन गहरी खानो की तली से और हमारे हृदयों के अन्तस्तल से निकली हुई हमारी करुण पुकार को सुनेंगे।"......"युद्धकाल में हम देश-रक्षा करनेवाले सैनिक थे और उस समय हमारी रक्षा की जाती थी, और अब हम उत्पत्ति करनेवाले सैनिक है और अब भी रक्षा चाहते हैं।" उन्होने ३४५ कफ़न मंगाये; और संदेश भेजा कि "हमने मरने का निश्चय कर लिया है। हमें अब भुला दो। बच्चों से विदाई।"

खानों के फाटको पर बड़े नाटकीय दृश्य हो रहे थे। खनिकों की स्त्रियां अपने पतियों के साथ शामिल होने के वास्ते खानों में घुसने के लिए पुलिस से बुरी तरह झगड़ रही थी। दूसरी स्त्रियां खान-मालिकों के पास पहुची और उनसे आग्रह किया कि वे मांगो को मंजूर करलें।

तीसरे दिन कम्पनी ने अन्य ३००० मजदूरों के लिए लाक-आउट (काम-बन्दी) कर दिया, जिससे कि उस क्षेत्र के ४०,००० निवासियों में और भी कटुता बढ़ गई। सड़क पर तैनात की गई। पुलिस की तादाद बढ़ा दी गई।

पार्लमेण्ट की सोशल-डिमाक्रेट पार्टी के एक सदस्य चार्ल्स पियर ने जो खान के गड्ढे में नीचे गया था और जिसने हड़तालियों को समझाने का यत्न किया था, कहा कि "मैंने कई कटुतापूर्ण हड़तालें देखी है किन्तु जितनी भयंकर दृढ़ता मैंने पेक्स की हड़ताल में देखी वैसी कहीं नहीं देखी।"

हंगेरियन पार्लमेण्ट का डिमोक्रेटिक सोशलिस्ट सदस्य, जनरल जेनस एस्टरगोलस, जो पहले स्वयं खनिक रह चुका था, समझौता करवाने के लिए खान के गड्ढों में गया था। उसने कहा कि जिन बातों को मैंने नीचे देखा वे "मेरे जीवन की बहुत भयंकर स्मृतियां रहेंगी।............ लोगों ने अपने साथियों को इसलिए खंभों से बाध दिया था कि कहीं वे अपनी आत्महत्या न करले। हड़ताली भूखे थे, थक गये थे और बेहोश थे। वे बिलकुल कमजोर हालत मे गरमी मे वहां भरे पड़े थे, खान की मैली-गीली सतह पर सो रहे थे और उन्होने कोयले के बड़े-बड़े ढेलों का तकिया लगा रक्खा था।"

अन्त में हड़ताल के चार दिन चलने के बाद लोगों को अधबिच का समझौता मान लेने के लिए राज़ी कर लिया गया। इस समझौते के अनुसार सरकार ने इस खान से सरकारी रेलवे के लिए पहले से ज्यादा कोयला लेना और इस तरह लोगों को ज्यादा देर तक काम दे सकना स्वीकार किया। उसने मजदूरी के कटोतरे की जांच करना और स्थिति को और भी सुधारना मंजूर किया। कंपनी ने एक पतझड के मौसम में और दूसरा शीतकाल में बोनस देना और हड़तालियो को बर्खास्त न करना स्वीकार किया।

जमीन के नीचे लगभग १०० घंटे रहने के बाद हडताली खनिक ऊपर आये। एक समाचारपत्र में यह रिपोर्ट छपी—"वे ऊपर धूप की रोशनी में आंखें मिचमिचाते हुए आये। उनके कपड़े फट गये थे, उनमें-से कई नंगे पैर थे, उनके चेहरे सूखे हुए और बाल बढ़े हुए थे, और उनके कुटुम्बी लोग ऊपर जो कुछ भोजन लाये थे उसे हड़पने के लिए उत्सुक थे। कुछ खनिक स्ट्रेचरों पर लाये गये और कुछ खनिक उठाये न जा सके, वे उसी कोयले पर पड़े रहे, जिस पर वे पांच दिन तक पड़े रहे थे। एक सौ दस आदमी तुरन्त अस्पताल भेजे गये। ....भूख और प्यास बुझ जाने के बाद ही उन्होंने उस समझौते पर असंतोष प्रकट किया जिसके द्वारा हड़ताल समाप्त हुई थी। खनिकों के नेताओं ने कहा कि हमने कंपनी की बताई हुई समझौते की शर्तें इसलिए मंजूर कर

की थीं कि हम लोग होश में नहीं थे, हमें इसका भान नहीं था कि हम क्या कर रहे हैं।"

इसके पश्चात् लगभग साढ़े तीन महीने बाद, पेक्स के ६७८ खनिकों ने खानों के भीतर, ९० फ़ीसदी मजदूरी बढ़ाने के लिए फिर भूख हड़ताल कर दी। उन्होंने बंधक के तौर पर चालीस ऐसे क्रिश्चियन सोशलिस्ट खनिकों को पकड़ रखा, जिन्होने उनका साथ देने से इन्कार कर दिया था। प्रबंधकों ने खान-व्यवसाय के अन्य ४००० मजदूरों की भी काम-बंदी कर दी। पुलिस ने खान के भीतर वाले खनिकों के ३००० साथियों को उनके साथ जाकर शामिल होने से रोक दिया। पहले तो प्रबन्धकों ने कहा कि जबतक हडताली खानों के भीतर रहेंगे हम उनसे कोई बातचीत नहीं करेंगे, और यह भी मांग की कि हडताली नेताओं के खिलाफ़ फौजदारी मुकदमा चलाया जाय। पहले दिन के बाद हडतालियों मेंसे ७० आदमी टूटकर चले गये, किन्तु बाकी मजबूती से डटे रहे। उनतीस घंटे बाद प्रबंधकों ने पूरी १० फ़ीसदी मजदूरी बढ़ा दी और मंजूर किया कि हडतालियों के विरुद्ध कोई कार्रवाई न की जायगी।

यद्यपि इनमेंसे कई खनिकों की आन्तरिक वृत्ति और कार्य हिंसात्मक थे, किन्तु उनका अत्यन्त निराशापूर्ण साहस, उनका स्वेच्छापूर्ण कष्ट-सहन और एकता, उनकी मांग की स्पष्टता और सरलता, इतने आश्चर्य-जनक थे कि अनजान और उदासीन दुनिया को भी उधर ध्यान देना पड़ा। इस हड़ताल और खनिकों की मानवीय आवश्यकताओं की तरफ़ समस्त संसार का इतना ध्यान गया कि मालिकों को झुकना पड़ा, और दूसरी हड़ताल में तो उन्हें मजदूरों की पूरी मांग ही मंजूर करनी पड़ी।

भारतवर्ष में संगठित सामूहिक अहिंसात्मक प्रतिरोध के और भी उदाहरण हुए हैं, जैसे १९१७ में अहमदाबाद की मिल-हड़ताल १९१६-१७ का खेड़ा सत्याग्रह, १९२३ में बोरसद-सत्याग्रह और १९२७ में नागपुर का सत्याग्रह। इन सबका संचालन या निरीक्षण गांधीजी करते रहे थे। खेड़ा और बोरसद के सत्याग्रह कर-संबंधी थे, और

नागपुर का सत्याग्रह भारत का राष्ट्रीय झंडा निकालने के अधिकार के विषय में था।

पंजाब में अकाली सिखों ने सन् १९२२ से कई वर्ष तक गुरुद्वारों पर नियंत्रण रखने के अपने अधिकार के बाबत सत्याग्रह चलाया, जिसमें वे आंशिक रूप से सफल भी हुए। गांधीजी का इसमें प्रोत्साहन देने के सिवा हाथ नहीं था।

इनके अलावा १९२१-२२ में अखिल भारतीय असहयोग आंदोलन हुआ था, जो अपने तात्कालिक उद्देश्य में तो असफल रहा, किंतु इस दृष्टि से अत्यन्त सफल हुआ कि उसने ३५ करोड़ निवासियों के देश को जगा दिया, उनमें आजादी की इच्छा पैदा करदी और उन्हें उसकी प्राप्ति के लिए ठोस काम करने के लिए तैयार कर दिया। उस आंदोलन ने भारत की राजनीतिक परिस्थिति को, और फलतः ब्रिटिश साम्राज्य की परिस्थिति को भी, बिलकुल बदल दिया। असहयोग आंदोलन की, और उससे भी अधिक महत्वपूर्ण सन् १९३० से १९३४ तक के सत्याग्रह की अगर पूरी कहानी लिखी जाय तो वह बडी लम्बी हो जायगी, और उतना स्थान यहा नही है। फिर भी, इस विषय के समझने के लिए १९३० के सत्याग्रह की दो घटनाओं-सबंधी अखबारी संवाद यहां उद्धृत किये जाते है।

न्यूयार्क के अखबार 'टेलीग्राम' में यूनाइटेड प्रेस के विशेष संवाददाता श्री वेब मिलर ने जो लम्बा संवाद भेजा था, उसमें-से एक अंश ही यहां दिया जाता है। अमेरिकन समाचारपत्र के संवाददाता का उद्धरण इसलिए दिया जाता है कि वह किसी भी अंग्रेजी अखबार के संवाददाता की अपेक्षा संभवतः अधिक सत्य और पूर्ण होगा।

"धरासणा छावनी, सूरत जिला, बम्बई प्रान्त, ता. २२ मई (डाक-द्वारा)—कल जब पुलिस के नियमों के विरुद्ध नमक की क्यारियों पर २५०० से अधिक 'गांधी'-स्वयंसेवक आगे बढ़े तो बड़ा आश्चर्यजनक दृश्य दिखाई दिया।

"इस धावे की बाबत आज जो सरकारी बयान प्रकाशित हुआ है उसमें लिखा है कि कांग्रेस के क्षेत्र से अनुमान लगता है कि लगभग १७० व्यक्ति घायल हुए किंतु केवल ३ या ४ को सख्त चोटें आईं।

"कल दोपहर के लगभग मैं कांग्रेस छावनी के अस्थायी अस्पताल को देखने गया तो मैंने ज़मीन पर कतारों में लेटे हुए २०० से अधिक घायलों को गिना था। मैंने अपनी आखों से देखा कि उनके चोटों के घाव थे। आज तो अंग्रेजों के समाचार-पत्र भी संख्या ३२० बता रहे हैं। ....

"पश्चिमीय लोगों ने तो हिंसा का मुकाबला हिंसा से किये जाते हुए, हमलों के बदले में हमला होते हुए और परिणाम में लड़ाई होते हुए देखा है। पाश्चात्यों की दृष्टि से तो धरासणा के नमक-सत्याग्रह के दृश्य चकित और स्तब्ध करने वाले थे। सुबह के समय मैंने देखा और सुना कि पुलिस ने सैकड़ो प्रहार किये, किन्तु यह भी देखा कि स्वयं-सेवकों ने बदले में एक भी प्रहार नहीं किया। जहांतक मैं निरीक्षण कर सका, स्वयंसेवकों ने गांधीजी की अहिंसा का पूर्ण पालन किया। मैंने एक भी ऐसा उदाहरण नहीं देखा, जिसमें किसी स्वयंसेवक ने लाठी का प्रहार बचाने के लिए भी हाथ तक ऊचा उठाया हो। ये मार खाये हुए स्वयंसेवक रोये-चिल्लाये भी नहीं। पुलिस की लाठियां खा लेने पर केवल उनके सिसकने की आवाज़ आती थी।

"स्पष्टतः, स्वयंसेवकों का तो उद्देश्य भी यही था कि वे पुलिस को अपनेको मारने को मजबूर करें। उन्होंने वहां से हट जाने से इन्कार कर दिया और वे नमक की क्यारियों की तरफ़ बढ़ने लगे। पुलिस कठिन परिस्थिति में पड़ गई।

"कई बार मैंने देखा कि पुलिस ने लाठियां ऊंची उठाकर आगे बढ़नेवाले स्वयंसेवकों को डराया, किंतु डराना बेकार था। उन्होंने पीछे हटने से दृढ़ता के साथ इन्कार किया, और फिर उनके निष्प्रतिकार शरीरों पर लाठियां पड़ने लगीं। स्वयंसेवक आहत या रक्तरंजित होकर गिर पड़े और स्ट्रेचर पर लिटाकर ले जाये गये। नमक की क्यारियों के पास प्रायः बाहरवाले स्वयंसेवक क्षेत्र से आहत होकर

ले जाये जानेवाले स्वयंसेवकों की तरफ दौड़ते थे और उन्हें बधाई देते थे। यह प्रकट होता था कि अधिकांश घायल स्वयंसेवक अपने घायल होने में गौरव का अनुभव करते थे। एक नेता कह रहा था कि 'आज इन लोगों ने भारतवर्ष के लिए एक महान् कार्य किया है। ये देश-कार्य के लिए शहीद हुए हैं।'

"बड़ी देर तक तो देशी पुलिस के सिपाही मारने से बचते रहे। यह देखा गया कि जब अफसर लाइन के दूसरे भाग का निरीक्षण करने चले जाते थे तो पुलिसवाले ढीले पड़ जाते थे, और जब अफसर वहां आजाते थे तो फिर डराना और मारना शुरू कर देते थे। मैंने कई जगह देखा कि स्वयंसेवक पुलिसवालों को अपने अन्दर शामिल होने के लिए समझा रहे थे।

"कभी-कभी पुलिसवाले क्रुद्ध हो जाते थे और फिर सच्चे दिल से मारते थे। मैंने कई बार देखा कि देशी पुलिसवालों ने न हटनेवाले स्वयसेवको को, जो लेटे या बैठे थे, जानबूझकर ठोकर मारी। और मैंने कई बार यह भी देखा कि पुलिसवालों ने द्वेषपूर्वक अपनी लाठी का ठूंसा स्वयसेवको के पेट में मारा।..........

"एक जगह मैंने देखा कि क्रोध में एक देशी सिपाही एक गड्ढे में गिरे हुए और उसके किनारे से चिपटे हुए आधे डूबे एक स्वयंसेवक पर लाठी चला रहा था। इस घटना से देखनेवाले स्वयंसेवकों में बड़ी उत्तेजना फैली।

"इन दृश्यों को देखकर मुझे बड़ा रोष हुआ, जैसा कि किसी मूक पशु को पीटे जाते हुए देखकर होता है। मेरे अंदर कुछ तो क्रोध और कुछ समवेदना का भाव था। बम्बई के सेन्सर अधिकारियों ने इन भावनाओं के लिखने पर भी आपत्ति की थी।

"अधिकारियों का दृष्टिकोण सत्यता से प्रकट करने के लिए यह कहना पड़ेगा कि कांग्रेस के स्वयंसेवक कानून को तोड रहे थे, या तोड़ने का यत्न कर रहे थे, उन्होंने वहां से हट जाने से बार-बार इन्कार कर दिया, उन्होने रस्सियों से खींच-खींचकर घेरे को तोडने की कोशिश की, और मार खाने पर स्वयंसेवक गौरव-सा मान रहे थे।

"अठारह साल तक कोई बाईस देशों में संवाददाता का काम करते हुए, मैंने असंख्य झगड़े, दंगे और विद्रोह देखे, किंतु धरासणा की तरह के दर्दनाक दृश्य कहीं नहीं देखे। पश्चिमीय मस्तिष्क समझ सकता है कि हिंसा का जवाब हिंसा से दिया जाय; वह झगड़ों-दंगों को भी समझ सकता है, किन्तु मेरा विचार है कि वह इस दृश्य से चकित और विमूढ़ हो जाता है कि मनुष्य जान-बूझकर कठोर हृदय करके आगे बढ़ता जाय और मार को, अपना बचाव न करता हुआ, चुपचाप सहन करता जाय। कभी-कभी तो दृश्य इतने दर्दनाक होते थे कि मुझे उस समय वहांसे हट जाना पड़ता था।

"एक आश्चर्यजनक बात थी, स्वयंसेवकों का अनुशासन-पालन। प्रतीत होता था कि वे गांधीजी के अहिंसावाद के पूरे माननेवाले थे। और नेता-गण स्वयंसेवकों के सामने निरन्तर खड़े रहते थे और यह याद रखने का अनुरोध करते रहते थे कि गांधीजी की आत्मा उनके साथ है।"

शिकागो के 'डेलीन्यूज़' ने भारत के अपने विशेष संवाददाता मिस्टर नेगले फार्सन का भेजा हुआ निम्नलिखित संवाद छापा था:—

"बम्बई २१ जून—दाढ़ीवाले वीर सिख थे, कइयों के मुंह से खून टपक रहा था, वे लाठियों की बौछार के मुकाबले में हटने से या अपनी रक्षा के लिए कृपाण तक निकालने से इन्कार कर रहे थे।

"हिन्दू स्त्रियां और लड़कियां बलिदान की केसरिया साड़ी पहने थीं, घोड़ों की लगामों पर अपने आपको डाल देती थीं, और पुलिस के घुड़-सवारों से प्रार्थना कर रही थीं कि वे पुरुष स्वयंसेवकों को न मारें, क्योंकि वे भी तो हिन्दू ही हैं।

स्त्रियां स्वराज्य का झंडा लिये थीं, और उनके आस-पास सत्याग्रही पुरुष जमीन पर अचल होकर लेट रहे थे। ऐसे छोटे-छोटे द्वीप दिखाई देते थे और उनके पास ही स्ट्रेचर लिये हुए लोग खड़े थे।

"बम्बई एस्प्लेनेड पार्क (मैदान) पर उपर्युक्त दृश्य नजर आये जहां कि छः दिन तक पुलिस और गांधीजी के अनुयायी आमने-सामने जमे

रहे। अन्त में आश्चर्य विमूढ़ करनेवाला, पाशविक, किन्तु वीरत्वपूर्ण एक दृश्य दिखाई दिया।

"एस्प्लेनेड के बाहर छ. बजे दृश्य शुरू हुआ। पार्क के सामनेवाले पुलिस स्टेशन पर पीली पगडी और नीली वर्दी पहने नंगे-पैर मरहठा पुलिसवाले भयानक लाठियां लिये खडे थे, और उनके अफसर लगभग बीस अंग्रेज साजण्ट थे।

"६-४५ पर स्वयंसेवकों का पहला जत्था सुन्दर कतार बनाकर ऊंचे-ऊंचे वृक्षों की पंक्ति से सुशोभित सड़क पर चलता हुआ आया। यह एम्बुलेंस की टुकडी थी, जिसमें ज्यादातर लड़के या नौजवान डाक्टर थे। जो खाकी वर्दी पहने थे। ये लोग खडी हुई पुलिस के पास से गुजर गए उन्होंने मैदान के दक्षिण की तरफ देखा तक नही, जहा कि उन्होंने एम्बुलेंस खडी की थी और स्ट्रेचर निकाल लिये थे।

"ऐसा दिखाई देता था मानो अस्पताल की नर्सें और चपरासी आपरेशन थियेटर की तैयारी कर रहे हो।

"७ बजे से सफ़ेद कपड़े पहने हुए स्वयंसेवकों के जुलूस आने शुरू हुए जिनके हाथो में तिरंगा झंडा था, और गा रहे थे 'भारत हमारा प्यारा, लेंगे स्वराज्य, लेंगे।' हर लूजुस के आगे कुछ स्त्रियां और लड़कियां थी जो केसरिया कपड़े पहने थी और कुछ के गले में चमेली के हार पड़े थे। ये सब दृढ़ता से पुलिसवालो के सामने से कूच करते हुए निकल गये और स्ट्रेचरो के पीछे कतार लगाकर खड़े हो गये। वे सड़क के किनारे लम्बी कतार में खड़े हो गये और मैदान मे मार्च करने के हुक्म का इन्तजार करते रहे।

"इसके बाद जो हुआ उसे मै कभी भूल नही सकता। काले चेहरे के मराठे पुलिसमैन कतार बाधकर अंग्रेज अफ़सरों के हुक्म में कूच करते हुए मैदान पार करके खड़ी हुई भीड़ की तरफ आये। जैसे-जैसे निकट आते गए पुलिस अधिकाधिक तेजी से चलने लगी। उन हिन्दुओं ने जो मरने को भले ही तैयार हों किन्तु शारीरिक पीड़ा से डरते थे, भयभीत नेत्रों से उन्हे अपनी तरफ आते देखा। इसके बाद पुलिस ने लाठियां चलाईं।

"कई हिन्दू सड़कें पार करके तुरन्त भाग गये, किन्तु अधिकतर अविचल खड़े रहे।

"पट्! पट्!! पट्!!! की आवाज़ आई। अन्त में भीड़ तितर-बितर हो गई। लाठियों से घायल ज़मीन पर पड़े हुए पुरुषों के पास केवल केसरिया साड़ीवाली स्त्रियां छोड़ दी गईं। कांग्रेस-स्वयंसेवकों की एम्बुलेन्सें घंटियां बजाती हुईं स्ट्रेचर उठानेवाले मैदान के पार इधर-उधर दौड़ते हुए नज़र आये। पट्! पट्!! पट्!!!

"एक मिनिट सन्नाटा रहा। इसके बाद झंडा उड़ाता हुआ स्वयंसेवकों का दूसरा दल विशाल हरे मैदान में बढ़ा। मराठों का भी एक दल उनके मुकाबले के लिए आगे बढ़ा। सामना हुआ, खड़खड़ाहट हुई। कमज़ोर दिल के लोग भाग गये। फिर वही दृश्य दिखाई दिया, मैदान का हरा पार्क घायल होकर गिरे हुए लोगों से चिन्हित हो गया और केसरिया वर्दी की हिन्दू स्त्रियां स्वराज्य का झंडा लिए खड़ी रहीं।

"और इसी प्रकार महिलाओं को घेरे हुए पुरुषों का एक छोटा-सा दल बैठा हुआ था। उनके सिर झुके हुए थे और वे लाठियों की बौछारें सह रहे थे। उन्होंने हटने से इन्कार कर दिया जबतक कि बिलकुल गिर न गये और स्ट्रेचर पर उठाये न गये। और उन घायलों के पास उनके लिए दो फुट की दूरी पर ही स्ट्रेचर रखे हुए थे।

"इसके बाद पचास सिखों का जत्था आया। वह वीरत्वपूर्ण दृश्य था। सिख लोग तो भयंकर लड़ाकू जाति के हैं। सिख दाढ़ी रखते हैं, और स्त्रियों की तरह सिर पर बाल रखते हैं। वे कट्टर अकाली पंथ के सिख थे। उनके पास पवित्र 'कृपाणें' भी थीं।

"उनके साथ उनकी पंद्रह लड़कियां और स्त्रियां भी थीं। स्त्रियों के पास भी कृपाणें थी, और यद्यपि हिन्दू स्त्रियों की भांति वे भी केसरिया साड़ी पहने थीं, किन्तु वे सूती सलवार पहने थीं। वे सुन्दर आकृति की थीं, किन्तु इतनी चिल्लानेवाली और उत्तेजित नहीं थीं जितनी कि हिन्दू स्त्रियां। वे मुस्करा रही थीं, मानो वे लड़ने को पसंद करनेवाली हों, जो कि सत्य भी है।

"उनमें-से एक के पास उसका छोटा-सा बच्चा भी था जिसे वह पुलिस-वालों के सामने दिखाना चाहती थी और कहना चाहती थी कि हिम्मत हो तो आजाओ। जब उसने मेरी बात का अनुवाद सुना कि बच्चे को इस झगड़े में लाना भयंकर बात है, तो वह मुझपर हंसने लगी।

"योद्धा पंजाब प्रान्त के सब जिलों के प्रतिनिधि रूप में आये हुए इन सिखों ने शपथ ली कि हम अपनी रक्षा के लिए कृपाण नहीं खींचेंगे, किन्तु हम मैदान से न हटेंगे। और वे हटे भी नहीं।

"उन्होने चिल्लाकर कहा 'हम नही हटेंगे, हम यहांसे हर्गिज नही हटेंगे, हम मर जायंगे लेकिन नहीं हटेंगे'। उनके हिन्दू साथियों को इससे बड़ी खुशी हुई। पुलिसवाले सिखों को मारने से पहले ज़रा हिचकिचाये। उन्होंने उनकी स्त्रियों से कहा कि मेहरबानी करके आप लोग तो हट जायें।

"स्त्रियो ने कहा, 'नही, हम तो अपने मर्दों के साथ ही मरेंगी'।

"पुलिस के हिन्दुस्तानी घुड़सवार, जो कि मैदान में घोड़े दौड़ाते और सिर फोड़ते फिरते थे, जब नीले साफे पहने अकाली सिखों के इस छोटे से जत्थे के सामने आये तो रुक गये।

" सिख तो बहादुर लोग होते हैं, हम उन्हे कैसे मार सकते हैं?'
उनके दिल में भय नही, आदर था।

"किंतु पुलिसवालो का तो दृढ निश्चय था कि मैदान को खाली कराया जाय। वे औरतो की तरफ़ से चक्कर काटकर आदमियों के सामने पहुँच गये और उन्हे मारना शुरू किया। एक सिख नेता के ऊपर लाठिया पडी। मै वहासे पांच फुट के ही फ़ासले पर था। वह ठिगना-सा गठीला आदमी था।

"लाठिया पडीं, वह सीधा खडा रहा। उसका साफ़ा दूर जा पड़ा। उसके सिर पर बालो की गाठ बंधी थी। ज्यों ही लाठियां पड़ीं, उसने अपनी आखें बंद कर ली। अंत में उसे गश आगया और वह जमीन पर गिर पड़ा।

"दूसरे किसी सिख ने उसे बचाने की कोशिश नहीं की, किंतु उन्होंने पुलिस को ललकारते हुए उसके मुंह से निकलते हुए खून को पोंछ दिया। घबड़ाये हुए हिन्दू लोग उसके पास दौड़े हुए गये और उसकी आंख के ऊपर की चोट पर लगाने के लिए बर्फ़ ले गये। वह सिख हंसने लगा और अधिक चोटें खाने के लिए खड़ा होगया।

" फिर पुलिसवालों ने अपना हाथ खींच लिया। उन्होंने कहा, 'कोई भी उल्लू अगर इस तरह सामने खड़ा ही रहेगा, तो उसे मारते ही नहीं जायेंगे।' "

इन उपर्युक्त उदाहरणों के अतिरिक्त हमें मालूम हुआ है कि चीन में विदेशी वस्तुओं के विरुद्ध कई बार बहुत सफल बहिष्कार हुआ है। बाह्य स्वरूप से ये बहिष्कार मुख्यतः अहिंसात्मक ही थे, किंतु कम-से-कम बाहर-वालों को तो यही प्रतीत हुआ कि चीनियों ने अहिंसा के तत्व को जान-बूझकर चुना नहीं है बल्कि एक सामाजिक स्वभाव के कारण बहिष्कार किये हैं। चीनियों के इतिहास-ग्रंथ भी बताते हैं कि उन्होंने अपने शासकों के सामने अहिंसात्मक प्रतिरोध का प्रयोग प्रायः किया है। यहूदी लोग भी पिछले १९०० वर्ष से अहिंसात्मक रहे हैं।

अहिंसात्मक प्रतिरोध के तत्व को अनेक भिन्न-भिन्न देशों के असंख्य विचारकों और साहसी लोगों ने स्वतंत्र रूप से सोचा है और प्रयुक्त भी किया है। ऐसे ही लोगों में लाओत्से, कनफूशियस, बुद्ध, जैन तीर्थंकर, ईसा मसीह, असीसी के सेंट फ्रांसिस, जार्ज फाक्स, लियो टॉलस्टॉय, आदि-आदि असंख्य लोग हुए जिन सबके नाम देना भी कठिन है। किंतु इस आधुनिक युग में गांधीजी ही ऐसे प्रमुख व्यक्ति हैं जिन्होंने इस सिद्धांत को विकसित किया है और संगठित सामूहिक रूप से बड़े आंदोलनों में उसका प्रयोग किया है, और अनेक कठिन परिस्थितियों में भी वास्तविक सफल लड़ाइयां लड़कर इस सिद्धांत के विस्तार को सिद्ध कर दिखाया है।

क्या अहिंसात्मक प्रतिरोध (सत्याग्रह) का प्रयोग केवल बुद्धिजीवी, साधु या संन्यासी ही कर सकते हैं? क्या यह केवल पूर्वीय देशों की ही मनोवृत्ति, विचार-सरणि, भावना, क्रिया और रहन-सहन के लिए उप-युक्त है? नहीं, ऐसा बिलकुल नहीं है। इसके इतिहास से सिद्ध है कि

इसका सफल प्रयोग किसानों, मजदूरों, बुद्धिजीवियों, नगरनिवासियों और साधुओं तथा साधारण ढंग के लोगों ने किया है। गरीबों ने और अमीरों ने, सम्पत्तिशालियों ने और घर-बार हीन खानाबदोशों ने, मांसाहारियों ने और शाकाहारियों ने, यूरोपियनों ने, अमेरिकावासियों ने, हब्शियों ने, चीनियों ने, जापानियों ने, भारतीयों ने, धार्मिकवृत्तिवालों ने और धार्मिक-वृत्ति-रहित लोगों ने—सबने—किया है। इसका उपयोग सफलतापूर्वक राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक संघर्षों में हुआ है। इसका उपयोग व्यक्तियों ने भी किया है और छोटे-बड़े दोनों तरह के समूहों ने भी किया है।

यह जानने के बाद कि सत्याग्रह का वास्तविक प्रयोग सफलता के साथ हो चुका है, जिसके कुछ उदाहरण तो हैं ही, अब हमें यह समझना चाहिए कि सत्याग्रह का परिणाम कैसे होता है और क्यों होता है। *

: २ :

नैतिक द्वन्द्व

अहिंसात्मक प्रतिरोध या सत्याग्रह के विषय में बहुत लोगों को इसलिए शंका रहती है कि वे उसके अंदर होनेवाली क्रियाओं को नहीं समझ सकते। यदि वे यह समझ सकें कि इसका परिणाम किन क्रियाओं द्वारा होता है तो उनकी शंकाशीलता कम हो जाय। इसलिए पहले तो हमें यह समझ लेना चाहिए कि अहिंसात्मक प्रतिरोध में क्या-क्या क्रियाएं होती हैं। फिर उसके सामान्य प्रयोग में कितनी सफलता मिल सकती है, इस प्रश्न पर हम विचार करेंगे। आधुनिक मनोविज्ञान की सहायता से

---

* भारत में सत्याग्रह के पूर्ण या अपूर्ण उदाहरण कुछ और भी हुए हैं—जैसे राजस्थान में, उदयपुर राज्य में बिजोलिया के किसानों का सत्याग्रह। यह अनुचित टैक्सों के विरुद्ध किया गया था। इसमें किसान स्त्री-पुरुष दोनों ने भाग लिया था और अन्त में वह अपने उद्देश्य में सफल हुआ। —सम्पादक

हम समझ सकते हैं कि सत्याग्रह में क्या-क्या भावात्मक, विचारात्मक और नैतिक क्रियाएं होती हैं। इसलिए पहले हम इस प्रश्न के इसी भाग पर विचार करेंगे और पश्चात् इसके व्यक्तिगत प्रयोग और फिर सामूहिक प्रयोग पर ध्यान देंगे।

जब एक व्यक्ति दूसरे को मारता है और मार खानेवाला व्यक्ति भी बदले में प्रहार करता है तो आक्रमक को प्रत्याक्रमण के कारण एक नैतिक आधार और कारण मिल जाता है। इससे मालूम हो जाता है कि जिस प्रकार आक्रामक व्यक्ति शारीरिक हिंसा या बलप्रयोग द्वारा किसी प्रश्न को निबटाना अच्छा समझता है, उसी प्रकार आक्रांत व्यक्ति भी अच्छा समझता है। यदि आक्रांत व्यक्ति भय या क्रोध मात्र दिखाता है तो भी उससे यही बात प्रकट होती है। आक्रमक को अपने बारे में विश्वास हो जाता है कि वह होशियार है, उसका मार्ग सही है, उसका मानव-स्वभाव का अध्ययन सही है और इसलिए उसके विरोधी के स्व-भाव के बारे में जो उसकी धारणा है वह भी सही है। उसको यह भी *विश्वास रहता है कि उसका विरोधी भी एक खास तरह का ही व्यवहार* करेगा। इस विश्वास के कारण आक्रमक का साहस कायम रहता है, और उसकी यह धारणा भी सत्य सिद्ध होती है कि हिंसा के मार्ग द्वारा ही प्रश्नों का निबटारा करना चाहिए। इस अनुभव से उसे फिर पक्का विश्वास हो जाता है कि वह विरोधी के साथ जो सामान्य व्यवहार कर रहा है वह ठीक है।

अब दूसरा उदाहरण लीजिये। कल्पना कीजिये कि आक्रमक एक दूसरे भिन्न प्रकार के व्यक्ति पर शारीरिक हिंसा का प्रयोग करता है। वह आक्रांत व्यक्ति भय प्रकट नहीं करता, शांत और दृढ़ रहता है और चूंकि उसकी धारणा, शिक्षा या अनुभव भिन्न प्रकार का है, इसलिए उसमें आत्मसंयम की बड़ी मात्रा है। यह विरोधी प्रत्याक्रमण नहीं करता, बल्कि मार खाकर भी प्रसन्न-चित्त रहकर यह कहता रहता है कि झगड़े की असलियत की बाबत उसका अमुक विश्वास है। वह झगड़े के दोनों पक्षों की जांच कराने के लिए तैयार है और सत्य बात मानने के लिए उद्यत

है। वह आक्रमक का विरोध करता है, किन्तु केवल नैतिक रूप में। वह कहता है कि मैं हिंसा द्वारा आक्रमक को कष्ट पहुचाने के बजाय स्वयं कष्ट सहूंगा और इस प्रकार अपनी सचाई का प्रमाण दूंगा। वह प्रहार सहता जाता है और भय या क्रोध या कम्पन प्रकट नहीं करता, निरंतर प्रसन्नचित्त रहता है, उसकी आंखों में कृपा, वाणी में दृढ़ता और शरीर तथा हाथ-पैरों की स्थिति में मजबूती रहती है। हिंसा का विरोध वह अहिंसात्मक प्रतिरोध से करता है।

अब आक्रामक के अंदर क्या-क्या क्रियाएं होंगी, यह समझना चाहिए। संभवत: उसकी प्रथम धारणा यह थी कि उसका विरोधी कायर और डरपोक है और हार मान लेगा। किन्तु विरोधी तो भयभीत नहीं होता, दबता भी नहीं है और उसकी कष्ट-सहन की शक्ति चकित करनेवाली होती है।

विरोधी के असाधारण और अप्रत्याशित व्यवहार से आक्रमक के मन में आश्चर्य उत्पन्न होगा। विरोधी को कायर समझने के कारण उसके प्रति जो घृणा या हीनता की दृष्टि थी, वह धीरे-धीरे हट जायगी और उसके स्थान पर आश्चर्य उत्पन्न हो जायगा। शैण्ड नामक मनोविज्ञान-शास्त्री ने कहा है, "जिसके प्रति आश्चर्य होता है उसके प्रति अरुचि, घृणा और द्वेष हट जाता है।"

जापान में एक विशेष प्रकार की जु-जुत्सु नामक कुश्ती होती है, जिसमें विरोधी शारीरिक बल खर्च नहीं करता, आक्रमक को बलप्रयोग करने देता है, और अंत में उसे थका कर हरा देता है। अहिंसात्मक प्रति-रोध भी इसी प्रकार का एक नैतिक द्वन्द्व है। इसमें आक्रांत व्यक्ति की अहिंसा और सद्भावना के कारण आक्रमक का नैतिक संतुलन बिगड़ जाता है। आक्रांत व्यक्ति जब हिंसात्मक प्रतिरोध नहीं करता तो आश्चर्य-जनक रूप से उसके प्रहार करने का नैतिक आधार ही चला जाता है। वह तो मानो एक नई दुनिया की धारणाओं में जा पड़ता है। सारी परि-स्थिति उसे नई मालूम होती है। उसे पता नहीं चलता कि उसे क्या करना चाहिए। इसलिए उसके हृदय में असुरक्षितता की भावना उत्पन्न होती

है। वह अपना दाव भूल जाता है और आत्मविश्वास खो देता है। आक्रांत व्यक्ति आक्रमक को आने देता है, आक्रमण करने देता है। इतना ही नहीं, वह तो अपनी सद्भावना, उदारता और कष्टसहिष्णुता के कारण उसे और भी अधिक आक्रमण करने का निमंत्रण देता है। इससे तो आक्रमक का नैतिक संतुलन और भी नष्ट हो जाता है। अहिसात्मक प्रतिरोध का प्रयोग करनेवाला तो जानता है कि वह क्या कर रहा है, आक्रामक की अपेक्षा उसका उद्देश्य अधिक निर्माणात्मक होता है और वह अधिक स्पष्टता के साथ समझता है कि अततः अहिंसा का मार्ग ही अच्छा है। वह घबराता नही है, उसे अपने कार्य पर शंका नहीं होती, वह अपना नैतिक संतुलन खोता नही है। इस प्रकार वह आक्रमक के भारी शारीरिक बल-प्रयोग को जीतने के लिए उच्च बुद्धि-रूपी साधन का उपयोग करता है।

इसी बात को दूसरी तरह भी कह सकते हैं। शारीरिक हिंसा की लड़ाई में जब दो व्यक्ति लडते हैं तो यद्यपि दोनों में प्रकट विरोध दीखता है, किंतु वास्तव में दोनो में एक ही आधारभूत तथ्य की एकता है। दोनो ही हिंसा को उचित मार्ग समझते है। इसलिए यदि दोनों में-से एक व्यक्ति उस आधारभूत एकता को छोड़ देता है और अपने कार्य द्वारा भी घोषित कर देता है कि उसने उस मार्ग को छोड़ दिया है जिसे सामान्यतः उसके पूर्वज सदा से प्रयुक्त करते आये थे, तो दूसरा व्यक्ति हक्का-बक्का रह जाता है और अनिश्चित अवस्था में पड़ जाता है। उसकी सामान्य विचार शक्ति तत्काल नही बता सकती कि उसे अब क्या करना चाहिए।

जापानी कुश्ती की तरह अहिंसात्मक प्रतिरोध में भी आक्रमक का बल-प्रयोग करना अंत में उसे ही थका देता है। इसमें आश्चर्य के अतिरिक्त और भी कई कारण होते हैं।

प्रथम कारण है क्रोध। क्रोध से बड़ी जल्दी शक्ति का क्षय होता है। पहले तो क्रोध से अवश्य शारीरिक और मानसिक बल बढता है, किन्तु बाद में जैसे-जैसे क्रोध दीर्घकाल तक कायम रहता है, वह क्रोध

करनेवाले को थका देता है और अंत में उसे बिलकुल बलहीन भी कर सकता है।

दूसरा कारण है आक्रमक व्यक्ति के मन में अंतर्द्वन्द्व का हो जाना जिससे कि उसकी शक्ति का एक भाग अन्दर ही अन्दर उसके ही विरुद्ध लड़ने लगता है। अहिंसात्मक प्रतिरोधी की दृढ़तापूर्ण बातों से उसके मन में उच्च और कृपापूर्ण भावनाएं जाग्रत होती हैं और उसकी हिंसात्मक भावनाओं से लड़ने लगती है। इस प्रकार उसके मन के ही दो भाग हो जाते हैं। अहिंसात्मक प्रतिरोधी की बातों का परिणाम शायद शीघ्र न हो, किन्तु उनके बार-बार दोहराने से परिणाम उतना ही निश्चयात्मक होता है, जिस प्रकार व्यापारिक विज्ञापनो के बार-बार दोहराने से होता है। मनोविज्ञान का यह सिद्धात है कि प्रेरक कारणों के निरंतर होते रहने से मन पर प्रभाव पड़ता है।

यहां मैं यह मानकर नही चलता, जैसा कि रूसो का मत था, कि हर मनुष्य जीवन के प्रारंभ में अच्छा ही होता है, अर्थात् अधिकांश रूप से अच्छा होता है। मैं तो मनोविज्ञान और इतिहास के प्रमाणों से यथेष्ट रूप से सिद्ध इस बात को मानकर चलता हूं कि जन्मजात विकृत-मस्तिष्क व्यक्तियो या कठोर अपरिवर्तनीय अपराधियों को छोड़कर शेष सब मनुष्यों में कुछ-न-कुछ अच्छाई या समाज के उच्च नैतिक नियमो के अनुसार चलने की क्षमता होती ही है, इस अच्छाई या क्षमता पर आभ्यासिक अभिमान, विद्वेष, कठोरता, निर्दयता, लापरवाही क्रूरता और अपराध-वृत्ति का चाहे कितना ही आवरण चढ़ा हो। मैं यह मान लेता हूं कि चूंकि यह अच्छाई की क्षमता एक जीवित प्राणी के अन्दर रहती है, इसलिए वह स्वयं भी एक जीवित वस्तु है, और उस पर भी प्रेरणा और प्रतिक्रिया के नियम (Laws of stimulus and response) लागू होते हैं। यह अच्छाई की प्रवत्ति भी बढ़ाई जा सकती है, और यहां तक बढ़ाई जा सकती है कि वह व्यक्ति के अन्दर उसकी हानिकारक प्रवृत्तियों के ही समान या उनसे भी अधिक बलवान हो सकती है।

हिंसात्मक प्रहार करनेवाले को अनुभव होने लगता है कि उसने

वह भूल की है कि उसने पहले विरोधी को कायर समझा। उसे खयाल होने लगता है कि इस अद्भुत विरोधी की बाबत में फिर कोई दूसरी भूल न कर जाऊँ, जिससे और भी परेशानी में पड़ जाऊं। इसलिए वह अधिक सावधान हो जाता है।

यदि उस स्थान पर दर्शक होते हैं, तब तो आक्रमणकारी अपनी स्थिरता और भी अधिक खो देता है। अनजान में वह दर्शकों के सामने नाटक-सा करने लगता है, वह बनने लगता है और उसे अपनी स्थिति का ध्यान और भी अधिक होने लगता है। दर्शक रूपी दर्पण में उसको तीत होने लगता है कि उसके व्यवहार मे और आक्रान्त के व्यवहार में बड़ा अन्तर है। दर्शकों की उपेक्षा से उसे प्रतीत होता है कि वह कुछ ज़्यादती कर रहा है, कुछ अशोभनीय बात कर रहा है और शायद उसके कार्य का परिणाम भी कुछ कम ही हो रहा है; वह आक्रान्त की अपेक्षा कम उदार है और वास्तव में अधिक पशुतापूर्ण है। उसे अनुभव होता है कि अपने विरोधी की बाबत उसने जो भूल की है उसे दर्शको ने देख लिया है। उसे भान होता है कि दर्शकों की भीड़ में उसका आदर घट गया है। उसे खयाल होता है कि मेरी प्रतिष्ठा नष्ट हो गई है। उसकी आंतरिक आत्म-प्रतिष्ठा कुछ-कुछ कम हो जाती है, उसमें हीनत्व-भावना आ जाती है। इसको वह स्वीकार करना नहीं चाहता, किंतु उसकी अनुभूतियाँ उसकी हिचकिचाहट द्वारा या उसके व्यवहार, भाषण या दृष्टि की दृढ़ता में न्यूनता आ जाने से प्रकट होने लगती है। दर्शक लोग इसको भांप लेते हैं। उसे प्रतीत होता है कि उसके साथ लोकमत नहीं है।

हिंसक व्यक्ति किस प्रकार लोकमत के समर्थन को खो देता है, इसके उदाहरण मज़दूरों की हड़तालों में प्रायः देखे जाते हैं। यदि एक भी हड़-ताली थोड़ी भी हिंसा कर डालता है, मारपीट करता है या ईंट-पत्थर फेंकता है तो अखबार उसे बढ़ा-चढ़ा कर ज़ाहिर करते हैं और बताते हैं कि सारे हड़ताली ही हिंसक हैं और शांति खतरे में है। इस तरह मज़दूर पक्ष लोकमत की दृष्टि में कमज़ोर हो जाता है। यदि हड़ताली मज़दूर शांत रहते हैं तो उनकी विजय की अधिक संभावना रहती है।

आक्रमक व्यक्ति के हृदय में अपने हिंसामार्ग के प्रति आंतरिक विश्वास कम होता जाता है और धीरे-धीरे उसे अनुभव होने लगता है कि अहिंसक विरोधी का साहस या वीरता निरी शारीरिक वीरता से उच्च है, अर्थात् उसे प्रतीत होने लगता है कि कोरी शारीरिक शक्ति से ऊँची भी कोई शक्ति है जो जीवन के लिए आधारभूत है। उसे आत्मिक शक्ति का कुछ-कुछ भान होने लगता है और अपने तरीके पर शंका और भी बढने लगती है। इससे आक्रमक व्यक्ति कमज़ोर पड़ता जाता है।

आक्रमक में निरन्तर कमज़ोरी लाते रहने वाला कारण एक यह भी होता है कि उसकी भावना और विचार-शक्ति अधिक ग्रहणशील वृत्ति में रहती है, जब कि अहिंसक प्रतिरोधी की उतनी नहीं रहती। अर्थात् आक्रमक का प्रभाव आक्रांत पर कम पड़ने की सभावना रहती है, किन्तु आक्रान्त का प्रभाव आक्रमक पर अधिक पड़ सकता है। इसके अनेक कारण हैं। युद्ध मे तो एक-दूसरे की भावना पर एक-दूसरे का प्रभाव पड़ता ही है। किन्तु अहिंसक प्रतिरोधी के व्यवहार से उत्पन्न हुआ आश्चर्य बडा प्रभावशाली होता है। क्योंकि कहा गया है कि "आश्चर्य के कारण उसी वस्तु पर ध्यान अधिक जाता है जिसके कारण आश्चर्य उत्पन्न होता है।" युद्ध में एक-दूसरे के व्यवहार या प्रवृत्ति का असर एक-दूसरे पर निरन्तर पड़ता है। जैसे-जैसे युद्ध चलता जाता है वैसे-वैसे आक्रमक की अनेक निर्बलताओं और आक्रात की अनेक निर्बलताओं का सामूहिक परिणाम होने लगता है। यह परिणाम आक्रमक के हृदय और मस्तिष्क पर होता है। इस प्रकार आक्रमक का असर आक्रात पर कम होता है, किन्तु आक्रान्त का असर आक्रमक पर अधिक होता है।

आक्रमक की निर्बलताओं का वर्णन ऊपर किया जा चुका है, अब आक्रान्त की प्रबलताओं के कारण नीचे दिये जाते हैं।

इस नैतिक द्वन्द्व में अहिंसक व्यक्ति की स्थिति कई कारणो से मजबूत रहती है। (१) पहला कारण यह है कि वह प्रारम्भ से ही नैतिक

आधार ग्रहण करता है, जिसमें कि आक्रमक आश्चर्यचकित हो जाता है। (२) दूसरा कारण यह है कि वह स्वयं आश्चर्य की स्थिति में नहीं होता। उसे अपनी बुद्धि या श्रद्धा या अंतःप्रेरणा से विदित रहता है कि इस लडाई मे क्या होने वाला है और वह उसके लिए तैयार रहता है, तथा उसमें होने वाली क्रियाओं का संयमन भी जानता है। (३) तीसरा कारण यह है कि वह आत्मसंयम और क्रोधाभाव के कारण अपनी शक्ति को सुरक्षित रखता है। इसके अलावा वह आक्रमक द्वारा प्रभावित होने की स्थिति में कम होता है।

उसकी प्रबलता का एक कारण है उसकी प्रमाणित सचाई और श्रद्धा। दृढ़ श्रद्धा एक महान शक्ति होती है। किसी कार्य के लिए स्वेच्छापूर्वक कष्ट सहन करना उसकी सचाई और श्रद्धा का प्रमाण है। और इससे यह भी प्रकट होता है कि उसके शरीर, मन, इच्छाशक्ति, और आत्मा सब एक सूत्र में ग्रथित होकर एक ही उद्देश्य के लिए कार्य कर रहे है। इसका तात्पर्य है कि अपरिमित और अकथनीय शक्ति उपयोग में लाई जारही है और वह कष्ट सहन करने को तैयार है। जब इस प्रकार के दृश्य देखे जाते है और ऐसा अनुभव होता है, तो मन पर बड़ा प्रभाव पड़ता है और हृदय द्रवित हो जाता है।

इसके अतिरिक्त आक्रान्त के आक्रमक पर हिंसा न करने से प्रकट होता है कि वह उसके व्यक्तित्व और उसकी अच्छाई का आदर करता है। बचपन से ही हम ऐसे व्यक्तियों को पसंद करते रहते है जो हमारे व्यक्तित्व का सम्मान करते है। युद्ध के उभयपक्षो के बीच में भी यह नियम लागू होता है। योरप के मध्यकालीन इतिहास में दो योद्धा एक दूसरे के व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा रख कर लड़ते थे, * इससे उस काल के युद्ध-नियम बड़े सुन्दर थे। सच्ची स्वतंत्रता और मानव-समाज के उच्च सगठन के लिए व्यक्तित्व का सम्मान एक अत्यन्त आवश्यक वस्तु है। दूसरे के व्यक्तित्व के सम्मान से उस पर इतना प्रभाव पड़ता है कि

* राजपूत-काल के युद्ध-नियम भी अत्यन्त उदार रहे हैं। —अनु०

जिसकी सामान्यतः कल्पना भी नहीं की जाती । इससे धीरे-धीरे हिंसक आक्रमणकारी लज्जित होने लगता है और दर्शकों का सम्मान शिष्ट प्रतिरोधक के प्रति बढ़ने लगता है।

दोनों विरोधियो को ही दूसरे व्यक्तियों की प्रशंसा प्राप्त करने की इच्छा और आवश्यकता होती है। लोक-प्रशंसा और लोक-समर्थन महान शक्तियां हैं। मानवजाति में समूहवृत्ति बड़ी प्रबल होती है, और लोक-प्रशंसा और लोक-समर्थन उसी के अंग हैं। श्री डबल्यू० ट्राटर की पुस्तक 'इंस्टिन्क्टस आफ दि हर्ड इन पीस एण्ड वार' में विस्तार से बताया गया है कि लोक-प्रशसा और लोक-निंदा का अत्यन्त भारी प्रभाव पड़ता है। पिछले महायुद्ध में लोग लोक-प्रशसा प्राप्त करने के लिए ही सेनाओं में भर्ती हुए थे। हड़तालों में दोनों पक्ष लोक-समर्थन प्राप्त करने का बड़ा प्रयत्न करते हैं। राजनीतिज्ञ लोग लोकमत का बल मानते ही हैं। इस कारण हिंसक आक्रमणकारी और अहिंसक प्रतिरोधी की लड़ाई में दर्शकों या जनता का समर्थन अहिसक प्रतिरोधी के साथ हो जाता है और आक्रमणकारी भी उसका आदर करने लगता है। दक्षिण अफरीका के सत्याग्रह में जब गाधीजी ने रेलवे हड़ताल के समय अपनी लड़ाई स्थगित कर दी तो उनकी बड़ी प्रशंसा हुई। एक बार जब विरोधी के हृदय में भी आदरभाव उत्पन्न हो जाता है तो झगड़े का निबटारा होने की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कदम उठ जाता है।

अब इस बात पर विचार करना चाहिए कि जब हिंसक आक्रमणकारी के हृदय में क्रूरता, लोभ, अभिमान, कट्टरता वा कठोरता भरी होती है तो उस परिस्थिति में क्या-क्या क्रियायें होती हैं ?

क्रूरता में भय, क्रोध और अभिमान का सम्मिश्रण होता है । लोभ वास्तव में सुरक्षितता और पूर्णता की इच्छा का ही नाम है, यद्यपि इसमें तरीका, साधन और सामग्री ग़लत होती है। लोभ एक प्रकार से न्यूनता का भय है। अभिमान परस्पर-भिन्नता की एक ग़लत भावना है। कट्टरता में हठपूर्ण सकीर्ण अभिमान होता है।

अहिंसक प्रतिरोधी यही यत्न करता है कि भय, क्रोध, हानि की

आकांक्षा, और पार्थक्य-भावना दूर हो और सुरक्षितता, एकता, सहानुभूति और सद्भावना उत्पन्न हो। भय और क्रोध दूर करने से क्रूरता कम होने लगेगी। अहिंसक प्रतिरोधी के व्यवहार के कारण उत्पन्न हुए आश्चर्य से अभिमान कम होने लगेगा, क्योंकि शैण्ड के कथनानुसार आश्चर्य की भावना के कारण अरुचि, द्वेष और घृणा की भावना कम होने लगती है। क्रूरता यदि सत्ता की या अधिक बड़प्पन अनुभव करने की इच्छा से उत्पन्न हुई हो तो अहिंसक प्रतिरोधी को लोक-प्रशंसा अधिक मिलने के कारण आक्रमणकारी को प्रतीत होगा कि ऐसी सत्ता लाभदायक नहीं है या उसमें उतना बड़प्पन नहीं है। अहिंसात्मक प्रतिरोध से धीरे-धीरे आक्रमणकारी के हृदय में भी यह विचार उत्पन्न होने लगता है कि मनुष्य-मनुष्य वास्तव में शत्रु या विरोधी नहीं हैं, मनुष्यों में भी एकता है, और हिंसा की सत्ता तो वांछनीय नहीं है। यदि क्रूरता इस कारण हो कि क्रूर व्यक्ति में बुद्धि या कल्पनाशक्ति या निरीक्षण-शक्ति की मन्दता या जड़ता है, तो दीर्घकाल तक अहिंसात्मक प्रतिरोध के दृश्य चलते रहने से अन्त में उसकी बुद्धि और निरीक्षण-शक्ति तीक्ष्ण होने लगेगी, और उसकी क्रूरता कम होगी। यदि मनुष्य के पिछले जीवन में कामवृत्ति के अनुचित दमन या असफलताओं या अपमानों के कारण चिड़चिड़ापन या रोष या सत्ता की इच्छा या आक्रमण-वृत्ति उत्पन्न हो गई हो और उसके कारण क्रूरता हो तो अहिंसात्मक प्रतिरोध से पूर्व वर्णन के अनुसार सत्ता की वह इच्छा परिवर्तित हो जायगी ; उसके व्यक्तित्व के प्रति सम्मान होने से उसके अपमान की भावना कम पड़ जायगी ; और किसी ऐसे नये मार्ग के ढूंढने में मदद मिलेगी जिससे उसकी हीन प्रत्यावर्तित वृत्तियां उच्चता में परिणत होने लगेंगी। यदि क्रूरता में लालच, महत्वाकांक्षा, या प्रतिशोधेच्छा कारणीभूत हों तो भी दीर्घ कालीन सत्याग्रह से ये कम हो जायंगी। भय, या पार्थक्य-भावना के हट जाने से लोभ और कठोरता कम होने लगते हैं।

आक्रमणकारी के हृदय से आक्रान्त के प्रति विच्छेदक (पार्थक्यकारी) चित्तोद्वेग की भावनाएं भय, क्रोध, घृणा, रोष, अभिमान, द्वेष, अरुचि,

चिन्ता, आशंका, धीरे-धीरे दूर हो जाते हैं। ये मनोविकार छिप या दब नहीं जाते, बल्कि इनके लिए कारण या आधार ही मिट जाता है।

नैतिक द्वन्द्व में अहिंसात्मक प्रतिरोधी या सत्याग्रही के अन्दर उसके चरित्रगठन में अनेक नैतिक विशेषताएँ होनी चाहिए। तभी वह अपना नैतिक संतुलन कायम रख सकता है, तभी वह आक्रमणकारी से अधिक प्रबल हो सकता है।

सत्याग्रही के स्वभाव मे सब से प्रथम तो वह वृत्ति होनी चाहिए जिसे 'प्रेम' कह सकते है। लोगो के प्रति इतना गहरा, दृढ़ और स्थायी प्रेम होना चाहिए कि वह उत्पादक हो। सत्याग्रही में मानवस्वभाव की श्रेष्ठ वृत्तियो की सभावना का गंभीर ज्ञान या विश्वास होना चाहिए। उसमें जीवन-मात्र की एकता और मनुष्यमात्र के बन्धुत्व का अनुभवपूर्ण साहस होना चाहिए। सत्य पर उसकी ढ इच्छा और श्रद्धा होनी चाहिए। उसमें ऐसी नम्रता होनी चाहिए, जो कायरतापूर्ण या दिखावटी न हो किन्तु जिसमें व्यक्तियो, वस्तुओ या गुणों के प्रति उचित अनुपात की भावना हो। ये गुण, प्रेम, विश्वास श्रद्धा, साहस, सचाई, नम्रता, न्यूनाधिक मात्रा मे प्रत्येक मनुष्य में होते ही हैं। आत्मशिक्षण और अनुशासन द्वारा ये गुण इतने विकसित किये जा सकते हैं कि सामान्य मनष्य को भी एक अच्छा अहिंसक 'सैनिक' बनाया जा सकता है। हां अहिंसात्मक आन्दोलनो के नेता बनने के लिए ये गण कुछ असाधारण रूप से उन्नत होने चाहिए, जैसा कि सशस्त्र युद्ध के सेनापतियों में भी सैनिक गुण सामान्य सिपाहियो से अधिक होना आवश्यक होता है।

सत्याग्रही के गुणों मे प्रेम सब से प्रमुख तो है ही, किन्तु प्रेम अन्य सब गुणों का उत्पादक भी माना जा सकता है। विरोधी के सम्बन्ध में यदि इसे प्रेम न कहना चाहे तो इसे एक विशेष प्रकार की बुद्धि या भावना कह सकते हैं। यह प्रेमभावना मजबत स्थायी, स्वार्थहीन, और दूरदर्शितापूर्ण होनी चाहिए। ऐसा प्रेम अदभुत बात तो है, किन्तु अतिमानुष या दुर्लभ नही है। अनेक माताओ और शिक्षको में यह प्रेम

देखा जाता है। ऐसा प्रेम कितनी उत्पादकता और प्रभावपूर्णता रखता है यह सुविदित ही है।

अपने प्रेम द्वारा जब आप अपने विरोधी के अन्दर अपने प्रति आदर उत्पन्न करा सकेंगे, तो आपका नवीन विचार उसके मन मे अपने-आप बैठकर उसकी अन्तर प्रेरणा बन जायगा।

प्रेम की तरह क्रोध भी परिणामकारी होता है, क्योंकि ये दोनों ही शक्तियों के रूप हैं। किन्तु क्रोध से प्रेम शक्तिशाली, स्थायी और परिणामकारी होता है।

परन्तु यदि लडाई के उभयपक्षो में-से किसी के मन में विरोधी के प्रति प्रेम या मैत्री-भावना उत्पन्न नही होती, तो उसे अपने प्रति तो ईमानदार ही रहना चाहिए। यदि अपने मन में असंयमनीय क्रोध या शत्रुता की भावना हो, तो उसे सचाई और साहस के साथ प्रकट कर देना चाहिए। दम्भ और पाखण्ड करना, और कायरता के कारण लड़ने से इनकार करना अशोभनीय है। ईसामसीह ने मनुष्य को सुधारने और विकसित करने के लिए ही कहा था कि क्रोध और लोभ छूट जाय तो युद्ध का अस्तित्व ही मिट जायगा।

असत्य या अन्याय को रोकने के लिए कायरतापूर्ण दब्बूपन से साहस-पूर्ण हिंसा अच्छी होती है। नैतिक दृष्टि से हिंसा से भी कायरता अधिक हानिकारक है। जैसी भावना अन्दर हो वैसा ही बाह्य कार्य होना आवश्यक है। दूसरे की अपेक्षा निर्बल होने की भावना से ही भय उत्पन्न होता है। चूंकि सभी मनुष्यो के भीतर नैतिक बल रहता है जिसके विकास की सभावना रहती है, और भयभीत होने का तात्पर्य है अपनी आन्तरिक बलिष्ठता के विकास को रोकना, इसलिए कायरता अत्यन्त हानिकारक है। हिंसा और क्रोध से कम-से-कम मनुष्य की अपनी नैतिक शक्तियो मे आत्मविश्वास तो प्रकट होता ही है, इसलिए उसमें आगे विकास करने की गुजाइश भी रहती है। किन्तु जो व्यक्ति भय के कारण शत्रु से नहीं लड़ता, वह वास्तव में अपने मन में विरोधी से घृणा करता रहता है और इस चिन्ता में रहता है कि यदि परिस्थिति बदल

जाय तो मैं विरोधी को हानि पहुंचाऊं या नष्ट कर दूं। ऐसी स्थिति में गांधीजी ने ठीक ही कहा है कि कायर होने की अपेक्षा हिंसा करना अच्छा है। किन्तु जो लड़ने का साहस रखता है और फिर भी लड़ाई नहीं करता, वही सच्चा अहिंसक प्रतिरोधी ह। कायर के हृदय में भय होता है, इसलिए वह प्रेम नही कर सकता और यदि वह प्रेम नही कर सकता तो वह सफल अहिंसक प्रतिरोधी भी नहीं बन सकता। उसको नैतिक द्वन्द्व मे पूर्ण सफलता नहीं मिल सकती।

यदि बाह्य कार्य आन्तरिक वृत्ति के अनुकूल हो, तो अहिंसक प्रतिरोधी के प्रतिरोध का दर्शको पर अच्छा प्रभाव पड़ता है और आम लोगों को मनुष्यमात्र के बन्धुत्व का भान धीरे-धीरे होने लगता है। किन्तु यदि मन में क्रोध और घृणा हो और कार्य में कायरतापूर्ण अहिसा हो तो यह पाखण्ड दूसरों को शीघ्र ही दिखने लगता है, और इससे विश्वबन्धुत्व के अनुभव की वृद्धि में प्रगति नही हो सकती।

अहिसात्मक मार्ग की लडाई के बाबत एक बात स्पष्टतः समझ लेनी चाहिए। हिसात्मक लडाई की तरह अहिसात्मक लड़ाई का उद्देश्य यह नही होता कि विरोधी को हानि पहुचाई जाय, दबाया जाय, अपमानित किया जाय, या उसकी 'इच्छा को कुचला जाय'। इसका उद्देश्य होता है विरोधी का हृदय-परिवर्तन करना, उसकी विचार-धारा और धारणाओं को बदलना, जिससे वह भी अहिंसक प्रतिरोधी के साथ मिलकर हार्दिक रूप से दोनो के लिए सन्तोषजनक हल निकलने में सहयोग दे सके। अहिंसक प्रतिरोधी ऐसा हल निकालना चाहता है जिसमें दोनों पक्षों का सम्मान सुरक्षित रहे; और जिसमे दोनों की इच्छाओ और कार्य-शक्ति की सार्थकता हो सके। वह आक्रमणकारी को अधिक ऊंची और सुरक्षित आधारभूमि पर पहुचा कर वहां नया नैतिक संतुलन कायम करने में सहायक होता है। दोनो के सम्बन्ध अधिक सुरक्षित, उत्पादक, सुखपूर्ण और सत्यतापूर्ण हो जाते है। यह सम्बन्ध मानवीय एकता की प्रतीति के आधार पर स्थापित होता है। इस प्रकार विचार

अनुभूति, और कार्य में एकता या अविरोध उत्पन्न करना ही अहिंसक प्रतिरोधी का उद्देश्य होता है।

: ३ :

हृदय-परिवर्तन

इस नैतिक लड़ाई में आन्तरिक शक्तियों का सूक्ष्म घात-प्रतिघात किस प्रकार का होता है यह देखना आवश्यक है। मन (Mind) की आंतरिक शक्तियों को हम दो विभागो में बांट देते है, एक जाग्रत (Conscious) और एक अ-जाग्रत (Un-conscious)। कार्यरूप में तो दोनों प्रकार की शक्तियां मिलजुल कर कार्य करती हैं और विभक्त नही हो सकती, किन्तु हम आन्तरिक क्रियाओं को समझने के लिए यह विभाग मान लेते हैं।

मन के भीतर एक वह क्रिया होती है जिसे मनो-विज्ञान वेत्ता विचार-प्रेरणा (Suggestion) कहते हैं। अहिंसक प्रतिरोधी के आश्चर्यजनक व्यवहार से हिंसक आक्रमणकारी के मन के सामने सहसा ये नये विचार उपस्थित होते है कि यह लड़ाई तो शांति और सद्‌भावना से भी निबट सकती है। शात व्यवहार तो हिंसा से अधिक गौरवपूर्ण, शिष्टतापूर्ण, परिणामकारी और सम्मानयोग्य होता है, संसार में शारीरिक शक्तियो से भी बलवान और वाञ्छनीय कुछ धारणाएं और सूक्ष्म शक्तिया होती है, और दोनो विरोधी व्यक्ति वास्तव में शत्रु नहीं है। चूंकि हिसक आक्रमणकारी का मन आश्चर्य आदि के कारण अधिक ग्रहणशील होता है इसलिए इन नये विचारों की ओर उसका ध्यान शीघ्र ही जाता है और केंद्रित हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में नये प्रबल विचारों का प्रभाव बड़े जोर से पड़ता है।

"विचार-प्रेरणा की क्रिया अ-जाग्रत मन में ही होती है।" स्वभाव-जन्य ज्ञान द्वारा ही आस-पास के लोगों की परिस्थिति का प्रभाव पड़ता है, अर्थात् यह अ-जाग्रत मन का कार्य है।

यह तो सुविदित बात है कि अ-जाग्रत मन पर की जाने वाली विचार-प्रेरणायें शक्तिशाली भी होती हैं और स्थायी भी होती हैं। वीरतापूर्ण कष्टसहन के दृश्य से और इस परिस्थिति की अनिश्चितता और आश्चर्योत्पादकता से आक्रमणकारी के मन में चित्तोद्वेग (Emotion) उत्पन्न होते हैं। दर्शकों की भीड़ की उपस्थिति से उसकी प्रभाव ग्रहण-शीलता और भी बढ़ने लगती है। इन विचारप्रेरणाओं से उसकी अन्तर-वृत्ति या हृदय परिवर्तन होने लगता है।

दूसरे शब्दों में हमको इस प्रकार कहना चाहिए। यदि आप दूसरे व्यक्ति को जीतना चाहते है तो शारीरिक बल-प्रयोग न कीजिये। किंतु उस पर ऐसी विचार-प्रेरणा कीजिये कि जिससे उसके मन में ही ऐसी विचार-धारा उत्पन्न हो जाय जो उसकी पिछली विचार-धारा से अधिक बलवती हो। उस विचार प्रेरणा को अधिक ज़ोरदार करते हुए इतनी बलवती कर दीजिये कि वह उसकी ही विचारधारा बन जाय और उसके मन के अन्दर उसीसे शक्ति प्राप्त करके बढ़ने लगे। यह नई विचारधारा पहिली विचार-धारा से टकराए नहीं, बल्कि उसको परिवर्तित करके अपने साथ प्रवाहित करले और फिर दोनो धाराओं की सम्मिलित मानसिक शक्ति से नई दिशा में कार्य होने लगे। यही सर्वोत्तम मनोवैज्ञानिक शक्तिशास्त्र और नैतिक युद्ध कला है।

नये विचारों से आक्रमणकारी की कल्पनाशक्ति प्रबल वेग से जाग्रत होने लगती है। नान्सी मत के मनोवैज्ञानिको की मान्यता है कि कल्पना-शक्ति और विचार-प्रेरणा दोनो मिलकर जाग्रत इच्छाशक्ति से बहुत अधिक प्रबल होती है; यहां तक कि यदि किसी मनुष्य की जाग्रत इच्छा और विचार यह हो कि वह अमुक कार्य करना चाहता है, किंतु यदि उसकी कल्पना-शक्ति में निरन्तर उसकी असमर्थता का ख़याल रहता है या कोई दूसरी विरोधी इच्छा रहती है, तो वह उस कार्य में अवश्य ही असफल होगा। बाओड्इन नामक मनोवैज्ञानिक इसे 'प्रत्यावर्तित प्रयत्न का नियम (Law of Reversed Effort)' कहता है। वह

कहता है कि जब "इच्छाशक्ति और कल्पनाशक्ति में संघर्ष होता है तो नि.संदेह कल्पना शक्ति की ही विजय होती है।"

इस प्रकार आक्रमणकारी के ऊपर की हुई विचार-प्रेरणा धीरे-धीरे उसकी कल्पनाशक्ति में समाविष्ट हो जाती है और हिंसा द्वारा विरोधी को पराजित करने की उसकी इच्छा को जीत लेती है। फ्रयूडवादी मनोवैज्ञानिक बताते हैं कि दमन की हुई इच्छा में विरोधी जाग्रत विचार से बहुत अधिक प्रबल होती हैं। संभवतः अजाग्रत मन में विचारप्रेरणा कल्पना रूप मे कार्य करती हुई दमन की हुई इच्छा के समान ही बलवती होती हैं।

इसमें संदेह नहीं कि जब एक व्यक्ति स्वेच्छापूर्वक किसी एक विश्वास या आदर्श के लिए कष्ट-सहन कर रहा हो, तो उस दृश्य से आक्रमणकारी और दर्शकों का हृदय द्रवित होजाता है, उनके हृदयों का परिवर्तन होने लगता हैं और उस व्यक्ति के साथ बन्धुत्व-भावना उत्पन्न होने लगती है।

कष्ट सहनेवाले के प्रति बन्धुत्व-भाव या सहानुभूति उत्पन्न होने और हृदय परिवर्तित होने के दो कारण हैं। मानव-जीवन-विकास के क्रम में हमारे शरीर के वात-तन्तुओ (nervous system) का निमार्ण इस प्रकार का होगया है कि वे कष्ट या यातना से बहुत परिचित हैं। हमारे पूर्वजो ने जीवन-विकास के प्रारभ से ही इतने व्यापक और इतने भीषण कष्ट सहन किये हैं कि हमारे ज्ञान-तन्तुओं पर कष्ट का बड़ा असर होता है। और किसी बाह्य कारण की अपेक्षा कष्ट से सम्बन्धित किसी भी कारण का हमारे चित्त पर जल्दी प्रभाव पड़ता है। इसीलिए कष्ट सहन के दृप्य से दर्शक के वात-तन्तुओं में अनजान रूप में ही सहानुभूति उत्पन्न हो जाती है। यह अनुभूति किसी अभ्यास, रूढि, विद्वेष या विरोधी भावोद्वेगों के कारण दबी या छिपी रह सकती हैं, किन्तु कम-से-कम अजाग्रत मन में तो अवश्य उत्पन्न होती ही है। यदि यही दृश्य बार-बार या दीर्घकाल तक दिखाई दें तो उसका प्रभाव अधिक बलवान हो सकता है। इस अनुभूति का कार्यक्षेत्र, अजाग्रत मन,

व्यक्ति के भीतर भी होता है, और समाज के भीतर भी होता है।

दूसरा कारण यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने हृदय में दृढ़ और वीर बनना चाहता है। इसलिए जब हम किसी को वीरता के साथ कष्ट सहन करते देखते हे तो हम सहन करने वाले की प्रशंसा करते हैं, और अपने मन में सोचने लगते हे कि क्या हम भी इस प्रकार सहन कर सकते या नहीं। हम अपने को कल्पना में उसके साथ एकाकार कर लेते है। इस एकत्व की कल्पना से सहानुभति की भावना उत्पन्न होती है।

इस प्रकार अहिंसक प्रतिरोधी के स्वेच्छापूर्ण, दीर्घकालीन, दृढ और अनुशासनपूर्ण कष्ट सहन से मनुष्य-मात्र के बन्धुत्व की प्रबल विचार-प्रेरणा मिलती है।

दूसरी आन्तरिक किया जिसका प्रभाव आक्रमणकारी पर पड़ता है अनुकरण है। आक्रमणकारी भी धीरे-धीरे अहिसक प्रतिरोधी के तरीक़े का अकनुरण करने लगता है। अनुकरण वृत्ति एक अत्यन्त बलवान शक्ति है। इसी से हम चलना, बोलना, और उद्योग-धंधे सीखते है, अपने बडो की भावभगिया सीखते है, और अपने नेताओं के तौर-तरीके ग्रहण करते है। हमारे शरीर के स्वाभाविक-कार्य-तन्तुओ की क्रियाओ का प्रभाव भी एक-दूसरे पर पड़ता है—जैसे कि जंभाई लेने, चेहरे की भावभगी बनाने, भाषण के तर्ज और कूच सगीत का अनुकरण होने लगता है। जान मे और अनजान में अनुकरण होने के अनेक उदाहरण अनेक मनोवैज्ञानिको ने दिये है। विचारो का भी अनुकरण होता है। इसी नियम के अनुसार आस-पास के साथियों का प्रभाव व्यक्ति के व्यक्तित्व पर पड़ता है। इसलिए जब आक्रमणकारी अपने आक्रात को देखता जाता है और उसके साहस की प्रशंसा करने लगता है, चाहे वह कितनी ही कम मात्रा में क्यों न हो तो वह अनजान में उसका अनुकरण करने लगता है, और उसका क्रोध ठंडा होने लगता है। अहिसात्मक विरोधी के विचार प्रेरणा या अनुकरण वृत्ति द्वारा हिंसा ग्रहण करने की कम संभावना रहती है, किन्तु हिंसक व्यक्ति के अहिंसा ग्रहण करने की संभावना अधिक रहती है।

यदि कोई यह समझे कि संघर्ष में दोनों पक्ष एक-दूसरे का अनुकरण नहीं करते तो उन्हें युद्ध के सिद्धांतवादी विद्वान क्लॉज विटज के शब्दों को याद रखना चाहिए कि "युद्ध में एक-दूसरे के कार्य का एक-दूसरे पर निरन्तर प्रभाव पड़ता है।" लेफ्टिनेंट जनरल फॉन केमेरेर का भी कहना है कि "युद्ध की प्रत्येक क्रिया के साथ मानसिक शक्तियां और प्रभाव काम करते हैं।.........युद्ध में दोनों दलों का निरंतर परस्पर प्रभाव पड़ता है।" यही बात व्यक्तियों की लड़ाई के संबंध में भी सही है।

हिंसात्मक युद्ध में आक्रान्त जो प्रत्याघात करता है उसमें स्वाभाविक आत्मरक्षण भाव के अतिरिक्त आक्रमणकारी का थोड़ा सा अनुकरण भी शामिल रहता है। जैसे जलने वाले दो लक्कड़ एक-दूसरे को गर्मी पहुंचाते और जलाते जाते हैं और एक-दूसरे की गर्मी से स्वयं भी जलकर भस्म होते जाते हैं इसी प्रकार हिंसात्मक युद्ध में क्रोध, घृणा, प्रतिशोध के चित्तोद्वेग भी एक-दूसरे के अनुकरण से अधिकाधिक उद्दीप्त होते जाते हैं और लड़ने वालों की शक्ति का क्षय कर देते हैं। इससे भी झगड़ा निबटाने में हिंसात्मक युद्ध की व्यर्थता प्रकट होती है।

अहिंसात्मक प्रतिरोध एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा एक के विचार और अनुभूतियां दूसरे के भीतर संचारित हो जाती हैं। चेहरे की, आंखों की, वाणी की, और शरीर की भावभंगी से, तथा दीर्घकालीन परिस्थितियों में लेखों और पत्र-व्यवहार से भी, और जहां शब्दों की संभावना नहीं है वहां अपने आचरणमात्र से ही विचार और अनुभूतियां दूसरे तक पहुंच जाती हैं।

एक अन्य आंतरिक क्रिया, जो अधिकांश में अजाग्रत मन पर होती है, अहिंसक प्रतिरोधी द्वारा विरोधी के प्रति विश्वास और आशा प्रदर्शन का परिणाम है। दूसरे के प्रति विश्वास और आशा रखना एक सूक्ष्म किंतु महान उत्पादक शक्ति है। इस प्रकार की विश्वास और आशा की वृत्ति का उदाहरण है गांधीजी का १९३१ में लन्दन की द्वितीय गोल-मेज कान्फरेंस में जाना। यद्यपि उसका परिणाम उस समय दिखाई नहीं

दिया, किंतु जो लोग व्यक्तिगतरूप से उनसे मिले थे उन पर बड़ा प्रभाव पड़ा था।*

आधुनिक मनोवैज्ञानिको का कथन है कि हमारे मन का अधिकांश भाग अ-जाग्रत है। जिस प्रकार कि ध्रुवप्रदेशों के सागर बहने वाले हिमपर्वतो (आइस बर्ग) का अधिकांश भाग पानी में डूबा रहता है और पानी के ऊपर केवल एक दशमाश भाग दिखाई देता है। उष्ण जलभाग में आजाने से उस हिमपर्वत का पानी के नीचे छिपा हुआ भाग धीरे-धीरे गलने लगता है, यहा तक कि निचला भाग अधिक गल जाने से वह पर्वत एकदम उलट जाता है और उसका स्वरूप ही बदला हुआ दिखाई देने लगता है। इसी प्रकार मनुष्य के अजाग्रत मन पर जब विचार-प्रेरणा, कल्पना-शक्ति, सद्वृत्ति-प्रोत्साहन, अनुकरण, विचारो और भावनाओ के संचार या विश्वासप्रदर्शन द्वारा क्रिया होनी है, तो उसका परिणाम जाग्रत मन या जाग्रत अनुभूतियों पर होने वाली किसी भी क्रिया के परिणाम से अधिक होता है। इसलिए मनुष्य के अजाग्रत मन पर दीर्घकाल तक जब किन्ही शक्तियो की क्रिया होती रहती है तो उनमें अचानक बडे परिवर्तन हो जाते है। यह कोई चमत्कार नही है, किन्तु ऐसी आंतरिक शक्तियो की क्रिया का परिणाम है, जिन्हे हम प्रायः भुला देते है। गाधीजी की १९३० की दाडीयात्रा का जो प्रभावशाली परिणाम दिखाई दिया था, उसका कारण भी ऊपर के उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा।

हिंसक विरोधी के मन और हृदय पर होनेवाले इन मनोवैज्ञानिक क्रियाओं के सम्पूर्ण परिणाम को हम 'हृदय-परिवर्तन' कह सकते है।

हृदय-परिवर्तन क्या है? प्रत्येक सभ्य मनुष्य के जाग्रत मन में या अ-जाग्रत मन में प्रारंभिक नैतिक वृत्तियो की स्मृति का भंडार रहता है। ये नैतिक स्मृतियां बचपन की कहानियो या उपदेशो के रूप मे रहती हैं

*ऐसा ही एक दूसरा उदाहरण है युद्ध-विरोधी सत्याग्रह जारी करने से पहले भारत के वायसराय से उनका भेंट करना।

या जीवनकाल में किसी समय अनुभव किये हुए नैतिक आदर्शों के रूप में रहती है। ये वृत्तियां जीवन की घटनाओं के कारण दब जाती हैं, या विस्मृत हो जाती हैं। किंतु इन पिछले विचारों या भावों के अवशेषों मे मानसिक क्रियाओं के कारण और चित्तोद्वेगों और मनः प्रवृत्तियो की उथल-पुथल के कारण कुछ भूली हुई वृत्तियां फिर जाग्रत बन जाती हैं, आक्रमणकारी को सचालित करनेवाली कुछ भावनायें और मनोविकार पथक् हो जाते है और इनका वेग और बल नष्ट हो जाता है, और वह वेग तथा बल नई वृत्तियो के साथ संयुक्त हो जाता है अथवा मानसिक प्रवृत्तियो का नया समूह संगठित हो जाता है और उनके साथ चित्तोद्वेग और मानसिक शक्ति सयुक्त हो जाती है। मनोविश्लेषणवाद (Psycho-analysis) के विद्वान इसे 'वृत्ति स्थानपरिवर्तन' (displacement) कहते हैं। इन मानसिक वृत्तियो के पुनः संगठन के साथ-साथ अहिंसात्मक प्रतिरोध द्वारा आक्रमणकारी की इच्छाओं और शक्तियों का उदात्तीकरण (Sublimation) भी होने लगता है, अर्थात् वे सामाजिकता के अधिक उच्च धरातल पर उठ जाती हैं, और मानव-समाज-संगठन के ऊंचे आदर्शों की अनुकूल दिशा में प्रवाहित होने लगती हैं।

पूर्ण स्वरूप में अहिंसात्मक प्रतिरोध मानव-समाज की एकता या विश्वबन्धुत्व के विचार का एक नाटक या अभिनय है। इसलिए सच्ची-भावना से खेले हुए नाटक की भांति इसका भी प्रभाव विरोधी के मन और हृदय पर अवश्य पड़ता है। इससे मनुष्य की आत्मिक शक्ति का और कष्टो और आपत्तियो पर विजयी होने की उसकी क्षमता का प्रदर्शन हो जाता है।

इन अजाग्रत-मन की क्रियाओं के अतिरिक्त अन्य जाग्रत-मन की क्रियाएं भी होती है। अहिंसात्मक प्रतिरोध में मनोवैज्ञानिक रिवेर्स के कथनानुसार 'बहुकार्यदक्षी क्रिया' (manipulative Activity) होती हैं। खतरे के समय जैसे मनुष्य उससे बचने के लिए अनेक दिशा में अनेक भिन्न-भिन्न कार्य करने की दक्षता बताता है, जिसमें कि अनेक

जटिल क्रियायें करनी होती हैं (उदाहरणतः शिकार में या मोटर या वायुयान के खतरे में), इसी प्रकार अहिंसात्मक प्रतिरोध में भी मुख्यतः नैतिक प्रकार की बहुकार्यदक्षी क्रियायें करनी होती हैं।

अहिंसात्मक संघर्ष के प्रारंभ हो चुकने के कुछ समय बाद एक और क्रिया होती है—हिंसात्मक पक्ष का विश्वाससंपादन। विरोधी के क्रोध या भय का प्रारंभिक आधार तो अधिकांश रूप में हट जाता है। आक्रमण-कारी को मालूम हो जाता है कि प्रतिरोध करनेवाला व्यक्ति उससे शत्रुता नही रखता; उसके व्यक्तित्व का सम्मान किया जाता है; और उसकी नई परिस्थिति में संशोधित नवीन स्वरूप की उसकी इच्छाओं की पूर्ति अधिक सरलता से हो सकेगी।

इसके पश्चात् 'सामजस्य' की स्थिति आती है। मिस एम० पी० फॉलेट ने 'क्रियेटिव एक्सपीरियन्स' नामक एक बहुत विचारपूर्ण पुस्तक लिखी है। उसमें बताया है कि लड़ाई मे एक पक्ष का स्वेच्छा पूर्वक आधीनता मान लेना, या लड़कर एक पक्ष का विजयी हो जाना, या दोनो पक्षों को झुककर समझौता कर लेना, ये तीनो स्थितियां अत्यन्त असतोषजनक और फिर बखेड़ा खडी करनेवाली होती हैं। उसका कथन है कि 'सामंजस्य' रूपी चतुर्थ मार्ग ग्रहण करना चाहिए।

सामंजस्य के लिए पहले दोनों पक्षो की प्रकट की हुई इच्छाओं का विश्लेषण करना चाहिए और उन इच्छाओ का आन्तरिक कारण या हेतु ढूढ निकालना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति यह मांग करता है कि टेबल कमरे में किसी अमुक स्थान पर ही रखी जाय, तो उसका मूल कारण यह है कि टेबल पर कार्य करते समय उसे रोशनी प्राप्त हो, और वह यह नहीं समझ सकता कि और किसी स्थान पर रखने से भी रोशनी प्राप्त हो सकेगी। रूस के दर्रे दानियाल पर नियंत्रण प्राप्त करने का मूल हेतु यह है कि वह स्वतंत्र व्यापार की सुरक्षितता चाहता है। किसी विशेष व्यवसाय के ही करने की इच्छा का मूल कारण है, रोजगार प्राप्त करना, धन प्राप्त करना और अपने अभिमान को संतुष्ट करना। किसी देश विशेष पर राजनैतिक सत्ता रखने की इच्छा का मूल कारण है वहां

से भोजन-सामग्री और उद्योग-धंधों का कच्चा माल प्राप्त करना तथा अपने अभिमान को संतुष्ट करना और यह समझने की असमर्थता भी कि इन आवश्यकताओ की पूर्ति निश्चित रूप से दूसरे किसी तरीके से भी हो सकेगी।

सामंजस्य मे बिल्कुल नया हल ढूंढना होता है, जिससे सम्भवतः बिल्कुल भिन्न प्रकार के कार्य करने होते हैं, जिससे दोनों पक्षों की सब या अधिकांश मूलभूत इच्छाओं और आवश्यकताओं की पूर्ति होती हो, और दोनों की प्रतिष्ठा को हानि पहुंचाये बिना दोनो की शक्तियों का पूर्ण उपयोग हो जाता हो। ऐसा हल पूर्णतः संतोषजनक होता है। सामंजस्य उत्पन्न करने में बड़ी उत्पादक बुद्धिमत्ता और अन्वेषण शक्ति की आवश्यकता होती है, और सब मतभेदो का तुरंत ही सामंजस्य भी नही हो जाता। अस्थायी समझौते किये जा सकते हैं, ताकि आगे खोज और परिवर्तन के लिए मार्ग खुला रहे।

इस विषय में प्रेम का बड़ा महत्व होता है। प्रेम के कारण ही विरोधी की मागो और इच्छाओ को सहानुभूति और ठीक दृष्टिकोण के साथ समझा जा सकता है, और दोनो पक्षों के हितों का सामंजस्य ऊंचे उद्देश्य के धरातल पर निकाला जा सकता है। प्रेम के कारण ही विरोधी के मन मे आपकी आवश्यकताओं और इच्छाओं को समझने की मनःस्थिति उत्पन्न हो सकती है। प्रेम के कारण ही विरोधी को यह मालूम हो सकता है कि आप उसके पक्ष को इतनी सचाई से समझ सकते हैं कि वह निःशंक होकर आप पर विश्वास कर सके।

मिस फॉलेट के सामंजस्य के सिद्धांत से प्रकट होता है कि इससे सारा झगड़ा तो नहीं निबटता । झगड़े में भय, क्रोध, अभिमान आदि चित्तोद्वेगों के भाग का हल हो जाता है, किंतु झगड़े के शेष भाग के हल के लिए तीक्ष्ण बुद्धिमत्ता और दीर्घकालीन विचार-शीलता के साथ अन्वेषण करने की आवश्यकता होगी । और जहां कठिनाई उपस्थित होगी वहां नवीन मनोवृत्ति सहायक होगी ही।

अनुभूति, कार्य और बातचीत के इस चढ़ाव-उतार का क्रम ऊपर

बताये हुए क्रम से भिन्न भी हो सकता है। उसका ढंग और उग्रता दोनों पक्षों की परिस्थितियों और चरित्र के अनुसार हो सकती है। उसको कार्यान्वित करने में काफ़ी समय भी लग सकता है। भावुक लोगों के बीच अनुभूतियो और कार्यों का क्रम तुरंत ही होगा। बहुत अभिमानी, या पाखंडी व्यक्ति के या कठोर सिपाही या पुलिसवाले के हृदय परिवर्तन के पहले संभवतः वास्तविक हिंसाप्रयोग बहुत सख्त और दीर्घकालीन होगा। किंतु ऐसे आक्रमणकारियो के मस्तिष्क में भी आश्चर्य इतना तीव्र होगा कि शायद इनकी 'काया पलट' जितनी देर से होना अनुमान किया जा सकता है उसकी अपेक्षा बहुत जल्द होगा।

लड़ाई का हल निकल आने के बाद तो केवल लड़ने वाले पक्षों में ही नही किंतु सब दर्शकों और जनता में भी संतोष, सद्भावना, उच्च मनोवृत्ति और व्यवहार होगा। मनुष्यो की उच्च प्रवृत्तियो के विकसित और सफल होने से इस कला का हाल सुनने वाले सब लोगों का भी साहस बढ़ेगा।

: ४ :

मानसिक आवेशों का सदुपयोग

किसी झगड़े का हल निकालने के लिए परस्पर हिंसा की अपेक्षा अहिंसात्मक प्रतिरोध अधिक उचित साधन है, क्योंकि उसका परिणाम अधिक पूर्ण और स्थायी होता है।

शरीर-रचना-शास्त्र की दृष्टि मे देखें तो क्रोध, घृणा, और भय के मानसिक आवेशो से हमारी शक्ति का बडा ह्रास होता है। घृणा से हमारी ताकत और हमारी कल्पना-शक्ति क्षीण होने लगती है। यदि आप किसी मनुष्य से काफी घृणा करेंगे, तो दिन-रात आपको उसी का ध्यान रहेगा, आप उसको भुला नहीं सकेंगे, आप उसके दास बन जायंगे। उसका विचार आपको निरंतर घुलाता रहेगा, उसीमें आपका अधिकांश समय नष्ट होगा।

हिंसात्मक लड़ाई में उसके समाप्त हो जाने के बाद भी ये मानसिक आवेश बने रहते हैं। पराजित पक्ष विजयी की श्रेष्ठता स्वीकार कर लेने के बाद भी सोचता रहता है कि मैं किसी तरह कोई मौका पाकर पिछले अपमान का प्रतिशोध लूं। उसके मित्र और परिवार के लोग भी प्रतिशोध में शामिल हो जाते हैं। कभी-कभी यह विद्वेष वंशपरंपरा-गत बन जाता है। योरप में राष्ट्रों के पारस्परिक विद्वेष शताब्दियों तक जारी रहे हैं। प्रतिशोध से फिर पुनः प्रतिशोध की भावना उत्पन्न होती है। मौलिक बुराई कई गुनी होकर बहुत विस्तृत हो जाती है और अच्छे कार्यों में लग सकने वाली अपार शक्ति और समय उसी में लग जाता है।

सेनावादी, युद्धवादी और हिंसावादी लोग प्रतिशोध और रोष के इस धीरे-धीरे होने वाले विस्तृत कुपरिणाम की ओर प्रायः ध्यान नहीं देते। बच्चे को चपत लगाना, मारपीट हो जाना, किसी जुर्म के सबब में गिरफ्तारी या सज़ा हो जाना, मृत्युदण्ड होना, दंगा होना, हड़ताल होना, डाका पड़ना, सैनिक आक्रमण, या ताजीरी सैनिक चढ़ाई होना, देशान्तर्गत युद्ध होना, या अन्तर्राष्ट्रीय संग्राम होना, इन छोटे या बड़े रूप के प्रत्येक संघर्ष में यह कुपरिणाम होता है। संघर्ष का अन्त चाहे किसी भी रूप में क्यों न हुआ हो इस प्रकार पूर्ण और स्थायी सतोष, क्षमा और शाति कभी नही होती कि जिससे दोनों पक्ष पूर्ण सुखी, रोषहीन और शंकाहीन होकर आगे बढ़ें। इसलिए क्रोध का मार्ग साधन और परिणाम दोनों दृष्टि से असफल है।

शांत प्रतिरोधी को भी बहुत शक्ति लगानी पड़ती है, किन्तु वह हिंसात्मक व्यक्ति की अपेक्षा अधिक बुद्धिमत्ता से उसका उपयोग करता है। हिंसक व्यक्ति दूरदृष्टि से नहीं सोचता, मूल कारणों की खोज नहीं करता, वह केवल तात्कालिक बात पर ज्यादा ज़ोर देता है; किंतु अहिंसक व्यक्ति दूर-दृष्टि से विश्लेषण करके मूल कारणों को समझ लेता है। इस कारण हिंसक की अपेक्षा अहिंसक की शक्ति का व्यय कम होता है। अहिंसक के शक्ति-प्रयोग का परिणाम भले ही धीरे-धीरे और देर से हो, किंतु अधिक पूर्ण और स्थायी होता ह।

लड़ाई के 'प्रस्तुत धरातल' पर लड़ाई का हल नहीं हो सकता। हिंसक लड़ाई में दोनों पक्ष प्रस्तुत धरातल पर ही हल निकालना चाहते हैं। किंतु दो विरोधी शक्तियों या प्रवृत्तियों का हल तो सदा उच्च धरातल पर ही जाकर निकल सकता है। एक पक्ष के हार जाने से उसकी भावनाएं और इच्छाएं दब जाती है और कभी न कभी प्रतिशोध के रूप में फूट पड़ती है। किंतु अहिंसक प्रतिरोध और सामान्य बुद्धिमत्ता के प्रयोग से ऐसा हल निकलता है जिससे दोनो पक्षो की शक्तियों को संतोषजनक कार्यक्षेत्र मिल जाता है। कभी-कभी तो दोनो की सद्भावना के कारण उनकी शक्तियो में वृद्धि भी हो जाती है। दोनों की शक्ति-धारा का मिल जाना और सम्मिलित रूप से नई दिशा में प्रवाहित होना वैसी ही बात है जिसे फ्रायड-मतवादी मनोवैज्ञानिक 'उदात्तीकरण' (Sublimation) कहते है।

अहिंसक प्रतिरोधी आक्रमणकारी से अनिच्छापूर्ण सहयोग नहीं चाहता, किंतु उसके लिए ऐसी स्थिति उत्पन्न करता है जिसमें वह नये कार्यक्रम में प्रसन्नता-पूर्वक अपनी पूरी शक्ति से सक्रिय सहयोग दे सके। इस दशा में बाहरी कार्य आन्तरिक मन.स्थिति के प्रतिकूल न होकर उसके अनुकूल होता है। इसी का नाम सत्य का ग्रहण है, जिसे गांधीजी सत्याग्रह कहते है। ऐसी शांति स्थायी होती है।

यदि हमें क्रोध और भय पर विजयी होने वाली किसी वस्तु का अन्वेषण करना है तो वह इनके विपरीत और अधिक शक्ति-शाली होनी चाहिए। प्रायः हम समझते है कि क्रोध और भय के विपरीत साहस है, किन्तु साहस तो अशत. ही विपरीत है। साहस तो प्रमुख धरातल पर ही क्रोध और भय का मुकाबला कर सकता है; उच्च धरातल पर मुकाबला करनेवाली वस्तु तो प्रेम है। प्रेम के साथ मुकाबला करने में खतरा उठाने और कष्ट सह लेने की तैयारी तो रहती ही है, किंतु उसमे लड़ाई को ऊंचे धरातल पर ले जाने और विरोधी शक्ति का सदु-पयोग करके उसको उदात्त बनाने की इच्छा, और प्रायः, योग्यता भी रहती है। प्रेम क्रोध और भय से अधिक शक्तिशाली भी है, क्योंकि वह

उनके बल का भी उपयोग नई दिशा में कर सकता है। भौतिक विज्ञान के विद्यार्थी 'शक्तियों के सम्मिश्रण' (Resolution of forces) का सिद्धांत जानते हैं। नैतिक क्षेत्र में प्रेम ऐसी ही एक वस्तु है, जिससे दो शक्तियां परस्पर टकराकर अस्थायी और असंतोषजनक परिणाम उत्पन्न करके नष्ट नहीं होती, बल्कि सम्मिलित होकर नई दिशा में कार्यन्वित होने लगती हैं। प्रेम का परिणाम विजय करने से भी उच्च होता है, क्योंकि विजय में तो एक पक्ष के नष्ट होने, झुकने या दबने की बात रहती है। प्रेम का उपयोग करना अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण है; वह किसी भी शक्ति का अपव्यय नही होने देता। शक्तियों के सम्मिलन और संवर्धन से जीवन और आनंद बढ़ता है। प्रेम नैतिक यंत्र-विज्ञान का एक महान सिद्धान्त है।

इस प्रकार हमें ज्ञात होता है कि अहिंसात्मक प्रतिरोध का परिणाम हिंसा की अपेक्षा अधिक पूर्ण और स्थायी होता है।

कभी-कभी झगड़े की समस्याएं केवल धैर्यपूर्ण विरोध करने, मित्रता-पूर्ण मनोवृत्ति रखने, निबटारे की इच्छा रखने और दीर्घकाल तक विचार विनिमय करने से ही हल नहीं होती। आगे कुछ अहिंसात्मक या रचनात्मक कार्य करते रहने की प्रायः आवश्यकता रहती है। इस अहिंसा-त्मक कार्य से मनोवैज्ञानिक पूर्णता प्राप्त होती है और विचारों का विस्तार और स्पष्टीकरण होता है जिससे कि सच्चा हल निकलने में सहायता मिलती है। हमारा ख़याल रहता है कि विचार से कार्य स्पष्ट होता है, किंतु कभी-कभी कार्य करने से भी विचारधारा की स्पष्टता प्राप्त होती है। नई भावी समाज व्यवस्था संबंधी भावना उत्पन्न होते ही उसके अनुसार कार्य भी होना मानसिक स्वस्थता का लक्षण है। अहिंसक प्रतिरोधी जब कोई ऐसा कार्य करता है तो वह उसके दबे हुए क्रोध या रोष का परिणाम नहीं होता, किंतु उसकी आत्मा और मन की क्रिया-प्रेरणा का परिणाम होता है। कभी-कभी ऐसे कार्य अत्यन्त जोशीले और शीघ्र होते हैं, मानो शक्ति का अखंड स्रोत फूट पड़ा हो। ऐसे कार्यों से विद्युत-प्रकाश की भांति सारा वातावरण प्रकाशपूर्ण हो जाता है और आश्चर्यजनक नवीन चेतना उत्पन्न हो जाती है। इनसे नई धारणायें

उत्पन्न होने में सहायता मिलती है। सन् १९३० के भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में नमक बनाने, कर बंदी करने, शराब और विदेशी कपड़ों पर धरना देने और खादी उत्पन्न करने आदि के कार्य उल्लेखनीय हैं। ये प्रयत्न पुरानी समाज-व्यवस्था के स्थान पर नई समाज-व्यवस्था कायम करने के हैं। इनका उद्देश्य जनता में गवर्नमेंट का भय भगाने और उनमें साहस, आत्मविश्वास, स्वाभिमान और राजनीतिक एकता उत्पन्न करना था, जिसमें वे बहुत कुछ सफल भी हुए। लापरवाह और अपराधी बालकों का सुधार करने वाले माता-पिता या शिक्षकों को भी कभी-कभी अचानक ऐसे दृढ़तापूर्ण कार्य करने पड़ते हैं जिनका परिणाम एक दिशा में प्रतिरोधक और दूसरी दिशा में उत्पादक या रचनात्मक होता है।

इस प्रकार का रचनात्मक कार्य प्रायः बालकों के लिए, या नवीन सामूहिक आन्दोलनों या नवीन राष्ट्रों के लिए करना आवश्यक प्रतीत होता है। जीवन के प्रारंभिक भाग में क्रिया की प्रधानता रहती ही है और विचार पश्चात् तेज क्रिया होनी ही चाहिए, अथवा विचार के पहले भी क्रिया हो सकती है और क्रिया के साथ-साथ प्रारंभ से ही अनुभूति हो सकती है। संभवतः मानव-समाज की किसी-किसी रुग्ण अवस्था में नई समाज-व्यवस्था उत्पन्न करने के लिए किसी तीव्र कार्य की आवश्यकता होती है। यह प्रमाणित किया जा सकता है कि सन् १९३० में ब्रिटेन और भारत के राजनीतिक और आर्थिक संबंधों में नैतिक अस्वस्थता आ चुकी थी।

मनुष्य में लड़ाकूपन की वृत्ति स्वभावतः है और इस वृत्ति के इतिहास और विकास के अध्ययन से भी अहिंसात्मक प्रतिरोध के मार्ग की श्रेष्ठता प्रतीत होती है। हॉकिंग ने अपनी पुस्तक 'ह्यूमन नेचर एण्ड इट्स रिमेकिंग' में इस विषय की अच्छी चर्चा की है। उसके कथन का सारांश यह है कि लड़ाकू वृत्ति का प्रारंभिक स्वरूप तो था प्रतिपक्षी के पूर्ण नाश की इच्छा। किंतु उच्च प्राणियों और मनुष्य ने विरोधी की इच्छा शक्ति का नाश करना ही ठीक समझा। 'मैं प्रतिपक्षी का नाश चाहता हूं' यह अनुभूति बदल कर

'मै प्रतिपक्षी से प्रतिशोध चाहता हूं' होगई। प्रतिशोध-भावना के द्वारा ही प्रतिपक्षी को हराकर उसे जीवित रख कर उसके अपमान का आनन्द लेने की वृत्ति उत्पन्न हुई। किन्तु पराजित और पीड़ित व्यक्ति की तीव्र घृणा एक खतरा बन जाती है। इससे प्रतिशोध का रूप बदल कर दंड होगया। दड में कष्ट दिया जाता है किन्तु स्थायी चोट या हानि नहीं पहुंचाई जाती। दंड मनुष्य की संपूर्ण इच्छाशक्ति का नाश न करके केवल उसके दूषित भाग को हटाने का प्रयत्न करता है। अब दंड के आगे का विकसित रूप, चिकित्साशास्त्र के एक नये आविष्कार के समान, प्रेम और सत्याग्रह का प्रयोग है। यह नवीन साधन विरोधी के मन की बुराई या दूषित अश के इलाज करने का एक अधिक अच्छा तरीका है। दंड से भी कुछ कटुता और घृणा उत्पन्न होती है जिससे कि मन की बुराई के इलाज में बाधा पड़ती है। यह पता लग चुका है कि मित्रता और प्रेम के द्वारा विरोधी के हृदय में ही स्वयं-प्रेरणा उत्पन्न हो जाती है कि मै अपनी बुराई या दोष को दूर करूं। यह स्वयं-प्रेरणा बडी कारगर चीज है। इस प्रकार इस दीर्घकाल के लबे अनुभव से सर्वश्रेष्ठ बुद्धिमान व्यक्तियों को प्रतीत हुआ कि मनुष्य की लड़ाकू वृत्ति और क्रोध का स्थूलप्रदर्शन जिस प्रकार प्रारंभिक अवस्था में वह करता था, उस प्रकार अब वह आम तौर पर करना नही चाहता। यह है मनुष्य की लड़ाकू वृत्ति का विकास।

शातिवाद (pacifism) वा अहिंसावाद मानव-जाति के स्वाभाविक विकास के अनुसार ग्रहण किया हुआ एक सिद्धात है। 'परानुभूति-वाद' (altruism) वृत्ति समूहाभ्यासी प्राणियों में स्वभावजन्य होती है, वह स्वभावजन्य ज्ञान का ही आवश्यक विकसित रूप है। जीवन-शास्त्रज्ञ भी यही मानते है।

प्रतीत होता है कि पाश्चात्यों की अपेक्षा पूर्ववासियों ने मनोविज्ञान और व्यवहारशास्त्र को अधिक गहराई से समझा है, और अहिंसात्मक प्रतिरोध के तत्त्व का अनुभव किया है जैसा कि बुद्ध, हिंदूधर्म, ईसा और गांधी के उदाहरण से सिद्ध होता है। एशिया के देशों की बड़ी

जनसंख्या और दीर्घकालीन सामाजिक अनुभव ही इसका कारण था। किन्तु अब तो यातायात साधनों के विस्तार, युद्ध की यातनाओं और पाश्चात्य मनोविज्ञान की खोजो से पाश्चात्य लोगो को भी वही अनुभव होता जा रहा है जो पूर्व को हुआ था। शायद पाश्चात्य मस्तिष्क उसी सत्य की दिशा मे प्रगति कर रहा है।

: ५ :

क्या सामूहिक सत्याग्रह संभव है ?

पूर्व के सत्य की ओर पश्चिम भी मनोविज्ञान और मानसिक क्रियाओं के विश्लेषण द्वारा धीरे-धीरे पहुंच रहा है। हमारी अनेक सामाजिक समस्याओं का हल तभी निकल सकता है जब हम अपने मन में होनेवाले विचारों और आवेशो की क्रियाओ को अधिक स्पष्टता से समझ लें।

भय और क्रोध इन दोनो मानसिक आवेशों का परस्पर बड़ा संबंध है। दोनो का उद्गम कारण एक ही है—अर्थात् किसी कष्टदायक, खतरनाक या अप्रिय वस्तु या परिस्थिति से व्यक्ति को पृथक् करना। यदि व्यक्ति समझता है कि वह उस वस्तु या परिस्थिति से बलवान है तो क्रोध का भावावेश होता है, और यदि वह समझता है कि वह उस वस्तु या परिस्थित से कमज़ोर है तो भय का भावावेश होता है। घृणा स्थगित किये हुए या असफल क्रोध का ही प है। भय में किसी-न-किसी प्रिय वस्तु या परिस्थिति या अपने प्राण की हानि की आशंका रहती है। भय या क्रोध दोनो का आधार सभवनीय हानि है। यदि हानि की आशंका हटा दी जाय तो भय और क्रोध दोनो हट जाते है।

भय के साथ पलायन की स्वाभाविक वृत्ति (instinct) रहती है, और क्रोध के साथ लड़ाकूपन की स्वाभाविक वृत्ति रहती है। हम सब जानते हैं कि हिंसात्मक युद्ध-कला मे शिक्षण और अनुशासन द्वारा भय का आवेश और पलायन की वृत्ति का संयमन हो जाता है। चूंकि यह बात संभव है इसलिए हमें यह भी सभव मानना चाहिये कि क्रोध का आवेश और लड़ाकू वृत्ति भी

शिक्षण और अनुशासन से संयमित हो सकते है। इसी कारण सामूहिक सत्याग्रह भी संभव है।

सामूहिक भावनाओं और सामूहिक भावनाओं द्वारा सामूहिक कार्यों के नियंत्रण की शक्ति का अस्तित्व है, और ये बातें इच्छापूर्ण प्रयत्न से विकसित भी हो सकती है। इस कारण भी सिद्ध होता है कि सामूहिक सत्याग्रह संभव है।

यदि यह कहा जाय कि हिंसात्मक युद्ध में तो भावावेश और स्वाभाविक वृत्ति का संयमन साहस के कारण हो जाता है तो अहिंसात्मक प्रतिरोध में भी एक दूसरे प्रकार का साहस होता है, जो नैतिक होता है। सैनिक साहस में अपने उत्कृष्ट बल, कुशलता, धैर्य या सुरक्षितता का विश्वास रहता है और व्यक्तिगत आत्मसरंक्षण की अपेक्षा जाति सरंक्षण (race preservation) की वृत्ति अधिक बलवान होती है। नैतिक साहस में भी एक भिन्न प्रकार के बल, कुशलता, धैर्य या सुरक्षितता की उत्कृष्टता का विश्वास रहता है, और इसमें भी संरक्षण का कुछ अंश रहता ही है। यह सही है कि जाति को अहिसात्मक प्रतिरोध की अपेक्षा हिंसात्मक युद्ध का शिक्षण और अनुभव अधिक मिला है। किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि यदि अहिसात्मक प्रतिरोध का तथ्य समझ में आजाय तो तत्संबन्धी शिक्षण या अनुशासन उत्पन्न करना या कायम रखना तत्वतः कोई कठिन कार्य है। सैनिक अनुशासन में भय और क्रोध का आंशिक और अल्पकालिक सयमन आवश्यक होता है। अहिंसात्मक अनुशासन संभवतः संख्या की दृष्टि से कुछ अधिक कठिन हो, क्योंकि इसमें भय और क्रोध के अधिक पूर्ण संयमन की आवश्यकता है, किन्तु गुण या तत्व की दृष्टि से अधिक कठिन नही है। क्योंकि इन दोनों भावावेशों का उत्पत्ति कारण एक ही है, और लक्ष्य (व्यक्तिगत आत्मसंरक्षण द्वारा जातिसंरक्षण) भी समान ही है। और यह भी प्रतीत होता है कि अब तो मनुष्य जाति ने इतना ज्ञान और बुद्धि विकसित कर ली है कि उसके नेता अधिक संख्या में इस नए प्रकार के अनुशासन की संभावनाओं को समझ सकते है।

पावलोव ने मनोवैज्ञानिक प्रयोग द्वारा सिद्ध किया है कि प्रेरक कारणों (Stimuli) के बदल जाने से मन की प्रवृत्ति भी बदल जाती है। (Conditioned reflexes) उन्होंने भिन्न-भिन्न कारण· उपस्थित करके अपनी इच्छानुसार कुत्ते की प्रवृति बार-बार बदली है। प्रवृत्ति बदल कर बिलकुल विपरीत भी की गई है। जे. बी. वाटसन ने भी मनोवैज्ञानिक प्रयोग द्वारा बताया है कि छोटे बालक में केवल दो ही प्रकार के भय होते है—एक गिरने का और दूसरा तीव्र शब्द का। इससे प्रतीत होता है कि मनुष्य मे अन्य प्रकार के भय बाद की परिस्थिति के अनुसार विकसित होने वाली प्रवृत्तियाँ है। हिसात्मक युद्ध भी इसी प्रकार की विशेष परिस्थितियो के कारण उत्पन्न हुई एक प्रवृत्ति है। और इसी प्रकार मित्रता और प्रेम भावना भी ऐसी ही एक प्रवृत्ति है। ये दोनों प्रवृत्तियाँ बदली जा सकती हैं। वास्तव में तो, युद्ध और अहिंसात्मक प्रतिरोध केवल परिस्थितिजन्य मन.प्रवृत्तियाँ या स्वाभाविक बुद्धि-जन्य कार्य ही नही है, इन से कुछ सविशेष भी है, क्योकि इनमें बड़ी सम्मिश्रित भावनायें और स्वेच्छापूर्ण संयम शामिल है। फिर भी यह तो सत्य है कि युद्ध मे स्वाभाविक बुद्धि-जन्य या परिस्थिति-जन्य जितना अंश है उसमें और भी परिवर्तन और सयमन हो सकता है।

किन्तु कुछ लोग शका करते है कि मनुष्य तो इतना सयम नही कर सकता। सामान्य मानवप्राणी से इतने ऊचे आदर्शवाद, भावना और नैतिक चरित्र की आशा करना असभव है। यह शंका ठीक नही है। यदि उचित शिक्षण दिया जाय, और साथ ही इस तत्व की समझदारी भी हो तो इतना सयम और अनुशासन होना असम्भव नही है। मुमकिन है कि इसकी तैयारी म कुछ साल लग जायं। कहा जाता है कि एक अच्छे सैनिक को तैयार करने मे चार वर्ष लगते हैं। श्री टी० एच० प्रोक्टर ने लिखा है कि "युद्ध से एक बात तो यह मालूम हुई है कि सबसे गये बीते आदमी भी अनुशासन के द्वारा अच्छे सैनिक बन सकते है।" यदि यह बात भय के सयम के विषय में सत्य है तो क्रोध के संयम के विषय में भी सत्य ही है। १९२८ में बारडोली सत्याग्रह में

वहां के सामान्य किसानों के बाबत यह बात सिद्ध होचुकी है। संसार की सबसे अधिक चालाक और अनुभवी शासक-जाति, अंग्रेजों के मुकाबले में सीधे-सादे किसान विजयी होगये, यह अहिंसा की उपयोगिता का कोई छोटा प्रमाण नहीं है। अधिक उदाहरण पहले अध्याय में दिये ही गये है।

नेपोलियन का कहना था कि युद्ध की सफलता में पचहत्तर प्रतिशत भाग अनुशासन का होता है। फॉक का कथन है कि "सेनाओं का मुख्य बल अनुशासन है।" ड्यूक आफ वेलिंगटन ने कहा है कि "अभ्यास प्रकृति से भी दसगुना शक्तिशाली है।" यह सिद्धांत युद्ध की तरह अहिंसात्मक प्रतिरोध के बाबत भी सत्य है। अनुशासन की कमी देखकर ही गाधीजी ने चौरीचौरा काण्ड के बाद असहयोग आन्दोलन बन्द कर दिया था। जिस प्रकार अनुशासन हीन सैनिकों को साथ लेकर नेपोलियन या फॉक युद्ध नही जीत सकते थे, इसी प्रकार गांधीजी भी अनुशासनहीन अनुयायियो को लेकर विजय नही पा सकते थे। इसलिए उन्होने उस समय भारतीय स्वतंत्रता-सग्राम स्थगित. कर दिया था। किन्तु इससे अहिंसा-मार्ग की असफलता सिद्ध नही हुई, केवल इतना ही सिद्ध हुआ कि लोगों ने नये प्रकार के अनुशासन को काफ़ी नहीं समझा था, और न उनका काफी दीर्घकाल तक शिक्षण हुआ था। गांधीजी के कई समालोचक इस बात को न समझ सके, किन्तु उनके विरोधी अधिक अच्छे रूप में समझ गए, और उनके अहिंसा-साधन की शक्ति को अधिक मानने लगे।

हिंसात्मक युद्ध में भी तो सेनाएं प्रायः हार जाती हैं या भाग जाती हैं, और सैनिक घायल हो जाते है या मर जाते है। यदि इन घटनाओं से हिंसात्मक युद्ध की विफलता सिद्ध नही होती, तो अहिंसात्मक आन्दोलन की उस समय की विफलता से, या अहिंसक प्रतिरोधियों के कष्ट-सहन या मृत्यु से अहिंसा-मार्ग की विफलता सिद्ध नही होती। वह पहला ही अवसर था जब कि अहिंसक प्रतिरोधियों की एक बड़ी सेना को संगठित करने और सिखाने का प्रयत्न किया गया था। इसमें क्या

आश्चर्य की बात है कि उस समय उसमें अनुशासन और समझ की कमी देखकर सेना को रुकने, पीछे हटने और अधिक शिक्षण देकर सिपाहियों को पुनः व्यूह-रचना करने का हुक्म देना पड़ा। संभवतः अपठित किसानों की अपेक्षा पाश्चात्य शिक्षा पाये हुये पठित लोग ही गांधीजी को कम समझ सके और उनमें ही अनुशासन की अधिक कमी रही। पाश्चात्य लोग या शांतिवादी भी अभी तक गांधीजी की अहिंसा को या अहिंसा के आवश्यक अनुशासन को नही समझ सके हैं। उन्हें युद्ध-वादियों के अनुभवो से सीखना चाहिए।

किन्तु यह शंका हो सकती है कि अहिंसा की असफलता के भी तो असंख्य उदाहरण मिलते है, बल्कि असफलतायें ही अधिक हुई है। मै मानता हू कि ईसा मसीह और ईसाई शहीदों की मृत्युएं, चंगेज खा और तैमूरलंग द्वारा हजारो निरपराधो का वध, एल्बीजेन्सो का उत्पीडन और हब्शियो का जिन्दा जलाया जाना आदि अनेक घटनायें हुई है। जिस प्रकार युद्ध मे अनेक सैनिकों के मर जाने पर भी उनके लक्ष्य की सफलता होजाती है, इसी प्रकार इन में-से कई व्यक्तियो के मर जाने पर भी उनके कार्य या उद्देश्य की सफलता हुई है। किन्तु संभवतः इनमें-से अधिकाश लोगो ने सच्ची अहिंसा नही बताई। संभव है, उनमें अनुशासन की कमी रही हो, या वे भयभीत होगये हों, या उनके नेता अयोग्य रहे हो, और इस कारण अनावश्यक रूप से मारे गये हो, जैसा कि हिंसाकारी युद्ध में भी इन त्रुटियो के कारण सेना का व्यर्थ नाश होजाता है। यदि उचित अनुशासन हो और नेता ऐसे हों जो अहिंसा-मार्ग की मनोवैज्ञानिक क्रियाओ और इसके नैतिक और आध्यात्मिक अंगों का पूर्ण ज्ञान रखते हो तो अहिंसा-मार्ग से हिंसा-मार्ग की अपेक्षा धन-जन की हानि बहुत कम होगी, और सफलता निश्चित होगी और जैसे हिंसात्मक युद्ध में अनुशासन, समझ और योग्य नेतृत्व संभव होते हैं उसी प्रकार अहिंसात्मक प्रतिरोध में भी संभव है।

सेना में यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक सैनिक ही या अधिकांश सैनिक बुद्धिमत्ता या सैनिक-गुणों के आदर्श हों। अनुशासन से उनकी

व्यक्तिगत कमजोरियों का असर हट जाता है और उनके गुणों का ज़ोर बढ़ जाता है। यही बात अहिंसक प्रतिरोधियों की अनुशासन-बद्ध सेना या समूह के बाबत भी सही है। बल्कि दल जितना छोटा होगा उतना ही अधिक उन में अनुशासन और समझ होना आवश्यक है। व्यक्तिगत सत्याग्रह करने वालों में समूह की अपेक्षा अधिक आत्मसंयम और योग्यता की आवश्यकता होगी। किन्तु यहां भी विद्वत्ता या सांसारिक अनुभव की अपेक्षा आंतरिक वृत्ति, मनोभावनाओं का ज्ञान और संयम अधिक महत्वपूर्ण अंग है। वास्तव में, किसी-किसी परिस्थिति में तो 'विद्वत्ता' और अनुभव बिल्कुल महत्वहीन होते हैं।

जिस प्रकार युद्ध में संलग्न किसी राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक में पूर्ण-रूप से युद्ध की तैयारी और लड़ाई की निर्भीकता आवश्यक नहीं है, इसी प्रकार अहिंसक प्रतिरोध करने वाले किसी भी राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति में भी अहिंसा का पूरा शिक्षण होना आवश्यक नहीं है। किंतु, यह संभव है कि सारा राष्ट्र अहिंसा के विचार को समझ ले और उसमें इतना अनुशासन हो कि लोग हार्दिक सहयोग प्रदान करें और ऐसा कोई कार्य (हिंसा या क्रोध के कार्य, दंगे आदि) न करें जिनसे अहिंसक सिपाहियों के कार्य में बाधा पहुंचे, जिस प्रकार कि युद्ध में जनता सेना को सहयोग प्रदान करती है। उन्हें अपने राष्ट्र में एकता उत्पन्न करने और सेवा संबंधी कार्य भी करने चाहिए, और व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से आत्मशुद्धि के भी कार्य करने चाहिए।

अहिंसात्मक प्रतिरोधियों में मनुष्य-मात्र के प्रति बन्धुत्व और एकता की भावना दृढ़रूप से होनी चाहिए। जीवनशास्त्र, मनो-विज्ञान, नीतिशास्त्र और अध्यात्मशास्त्र प्रत्येक दृष्टि से मनुष्य-मनुष्य में अविरोध और प्रेम होना आवश्यक है यह उनका पक्का विश्वास होना चाहिए। उनके विरोधी कितने ही दोषयुक्त हों या उनका पिछला इतिहास कितना ही बुरा हो, किंतु मूलतः वे अच्छे ही हैं, और उनके हृदय में भी सद्गुणों का कुछ-न-कुछ अंश मौजूद है जो अन्ततः विकसित और उन्नत किया जा सकता है। यदि यह बात सत्य न होती तो मानव-जाति संसार

से कमी की मिट चुकी होती। यह श्रद्धा अहिंसक प्रतिरोधी में होनी चाहिए।

उचित परिस्थिति में अर्थात् उचित प्रेरक कारणों से सद्गुणांश उन्नत हो सकते हैं, यह कोई अन्धश्रद्धा की बात नही है। इसके काफ़ी प्रमाण हैं। वनस्पति, जन्तु, पशु और मनुष्य, प्रत्येक जीवित पदार्थ के जीवनरस (Protoplasm) द्वारा इसका उदाहरण मिल जाता है। प्रत्येक जीवित पदार्थ में प्रेरक कारण (stimulus) के अनसार प्रतिक्रिया (response) होती है, और प्रेरक कारणों के अनुसार जीवो में परिवर्तन होते रहते हैं। जीवन-शास्त्र के सिद्धांतों से यह सिद्ध है। शिक्षण-शास्त्र का आधार भी यही है।

प्रतिक्रियाएं या परिवर्तन बहुत ही सूक्ष्म प्रेरक-कारणो द्वारा भी होते हैं। जो प्रेरक कारण प्रभावोत्पादकता की सीमा से भी सूक्ष्म होते हैं उनके बार-बार दोहराये जाने से भी निश्चित परिणाम दृष्टिगोचर होते ह। यदि एड्रेनेलीन (Adrenalin) नामक पदार्थ का २५,००,००,००० में एक अंश का घोल हो जाय तो उससे ही खन का दबाव बढ जाता है। यदि पिट्यूटरी हारमोन (Pituitary hormone) का १,००,००,००,००,००० में एक अंश का घोल हो जाय तो मादा प्रणियों के गर्भाशय का तीव्र सकोचन होता है। बोटुलिनस टाक्सिन फिल्ट्रेट का १००००००००००००००००००० में एक अंश का घोल हो तो उसी से मारक परिणाम हो सकता है।

जीवन-शास्त्र का यह सुविदित सिद्धान्त है कि जीवित पदार्थों के जीवन-कोष्ठो की वृद्धि बहुत हलके प्रेरक कारणो की बार-बार आवृत्ति से होती है न कि तीव्र प्रेरक कारणो से। पृथ्वी के शीत प्रदेशों में जहां शीत काल में वनस्पति और जीव-जन्तुओ का विकास दिखाई नही देता, वहां जब वसन्त-ऋतु का आगमन प्रारंभ होता है तो दिनमान में प्रतिदिन एक से लेकर तीन मिनिट तक की हलकी वृद्धि होने लगती हैं। दिनमान वृद्धि की तीस या चालीस आवृत्तियों में कोई परिणाम नज़र नही आता, ६०-७० आवृत्तियो में घास की कुछ हरियाली

और कलियों का फूटना प्रारंभ होता है, और १२० या अधिक आवृत्तियों में तो वनस्पति, जन्तु, पशु और पक्षी सब हरे-भरे फूले-फले और जीवनपूर्ण नज़र आने लगते हैं। लाखो और करोड़ो वर्षों से पृथ्वी पर यही क्रम चल रहा है।

सूक्ष्म और हलके प्रेरक कारणों की बार-बार आवृत्ति होने से वृद्धि अवश्य होती है, इसमें संदेह ही नहीं करना चाहिए। शायद इसीलिए ईसा मसीह ने अपने शिष्यो को पांच सैकड़ा बार क्षमा करने का उपदेश दिया था, ताकि क्षमा के हलके प्रेरक कारण की बार-बार आवृत्ति होने से विश्व बधुत्व की भावना उत्पन्न हो सके।

इन तथ्यों से सिद्ध होगा कि अहिंसक प्रतिरोधी की क्षमाशीलता, धैर्य और सतत कार्यशीलता का कितना बड़ा परिणाम होता है और कितना महत्व है।

: ६ :

सामूहिक सत्याग्रह का क्रियात्मक रूप

यह मानकर कि सामूहिक सत्याग्रह का अनुशासन प्राप्त किया जा सकता है और प्राप्त होगया है, अब देखना चाहिए कि उसका क्रियात्मक रूप क्या होगा।

चूंकि सामूहिक लड़ाई का सबसे विकसित और सब से अधिक समझ में आने योग्य तरीका युद्ध है, इसलिए हम युद्ध-कला के विद्वानों की सम्मतियो द्वारा ही इस प्रश्न का विवेचन करेंगे।

मार्शल फॉक ने अनेक उदाहरणों द्वारा स्पष्ट रूप से बताया है कि यद्ध के तरीके में मुख्य बात मनोवैज्ञानिक, या जिसे वह 'नैतिक' कहते हैं, है।

"युद्ध में साहस और आत्म विश्वास का बड़ा महत्व है, इसके असंख्य प्रमाण और उदाहरण दिये जा सकते हैं। स्वयं वॉन डेर गोल्ट्ज कहता है कि 'शत्रु की सेनाओ को नष्ट करना इतना आवश्यक नही हैं जितना

कि उनका साहस नष्ट करना। ज्यों ही तुम शत्रु को यह निश्चय करा सको कि उसका लक्ष्य अब विफल होगया, त्यो ही तुम्हारी विजय हो जायगी।' वह यह भी कहता है कि 'व्यक्तिगत या पूर्ण विनाश करके कोई भी व्यक्ति शत्रु को नही हराता बल्कि उसकी विजय की आशा का विनाश करके ही हराता है।'

मार्शल डि सेक्से, नेपोलियन, वान केपेरेर, जनरल सर एफ. मॉरिस, कैप्टेन बी. एच. लिडिलहार्ट आदि युद्ध-कला विशेषज्ञों का भी ऐसा ही कथन है।

अहिंसात्मक प्रतिरोध का उद्देश्य भी आंशिक रूप से युद्ध के समान ही है—अर्थात् विरोधी का आत्म विश्वास नष्ट करना, उसकी इच्छा-शक्ति को तोडना उसके साहस, उत्साह और आशा का भंग करना। किंतु दूसरी दृष्टि से वह युद्ध से भिन्न भी है। क्योंकि अहिंसात्मक प्रति-रोध विरोधी के नैतिक साहस को इसलिए तोड़ता है कि वह उसमें अधिक सत्य मूलक, अधिक उच्च और नया साहस उत्पन्न कर सके। अहिसात्मक प्रतिरोध विरोधी की इच्छा शक्ति को पूर्णतः तोड़ता नही है किंतु उसे बदल देता है, उसके आत्मविश्वास, उत्साह और आशा को भंग नही करता, किंतु उसे उच्च उद्देश्य के लिए परिवर्तित कर देता है। युद्ध की समानता तो यहां केवल समझाने की सुगमता की दृष्टि से बताई गई है।

हॉकिंग का कथन है कि "साहस मन की इच्छा या लक्ष्य की एक परिस्थिति विशेष का ही नाम है।" साहस मुख्यतः ऐसे कारणों पर आधारित रहता है—व्यक्तिगत सैनिक का अपने-आप पर विश्वास, अपने साथियों पर, अपनी सेना पर, अपने नेता पर, अपने तरीकों पर, जिस लक्ष्य के लिए युद्ध लड़ा जा रहा है उस पर, अपनी गवर्नमेंट पर, और अपना समर्थन करने वाले राष्ट्र के नागरिकों पर विश्वास। उसके और भी अंग होते है, जैसे, समस्त सेना की व्यापक एकता में अपने-आप को समाविष्ट कर लेना, अभ्यास, परम्परा, खतरे को पसंद करना और खतरा उठाने की इच्छा।

कल्पना कीजिये कि किसी कारखाने में हड़ताल है, या अंग्रेज़ सैनिकों का मुकाबिला कुछ अहिंसक हिंदुस्तानी कर रहे हैं, या यूनाइटेड स्टेट्स के सैनिकों का मुकाबिला कुछ अहिंसक फिलिपाइन-वासी कर रहे हैं। कल्पना कीजिए कि सैनिक लाठी चलाने या बंदूक के सिरे की बरछी छेदने का यत्न करते है। नागरिक प्रारंभ से ही अहिंसक हैं और सैनिक गोली नहीं चलाते। सैनिक कुछ हिंसा करते हैं, और नागरिकों की गिरफ़्तारी करते हैं। यह भी मान लीजिये कि वह लक्ष्य इतना लोकप्रिय है कि ज्यों ही कुछ लोग गिरफ्तार हो जाते है त्यों ही दूसरे लोग उनका स्थान लेने को आजाते है। ऐसी परिस्थिति में सैनिकों के मन और साहस पर क्या परिणाम होगा?

परिणाम अंशतः तो वैसा ही होगा जैसा कि एक व्यक्ति के हिंसात्मक उपाय से किसी अहिसक प्रतिरोधी पर आक्रमण करते समय होता है, जिसका कि उल्लेख पिछले अध्याय में किया गया है। किन्तु पहले तो सनिकों का अनुशासन और अभ्यास ही उनपर उस परिणाम का होना रोकेगा। व्यक्तिगत सिपाही की इच्छा-शक्ति सेना की इच्छा-शक्ति में मिल चुकी है और पूर्णतः उसके अफ़सर के आधीन है। वह अफ़सर सख्ती करने का अभ्यासी है और दूसरों को नष्ट करने या चोट पहुँचाने से बिलकुल नही हिचकता।

किंतु "सैनिक शिक्षण का एक मुख्य परिणाम तो सिपाही की प्रभाव-ग्रहण-शक्ति को बढ़ाना ही होता है।" यह सही है कि उसे तो अपन अफ़सरों का प्रभाव-ग्रहण करना ही सिखाया जाता है, किंतु विरोधियों या 'शत्रुओ' के कार्य या व्यवहार का प्रभाव भी उस पर अवश्य पड़ता है, क्योंकि शत्रुओं के व्यवहार को लक्ष्य में रख कर ही तो सैनिकों को शिक्षण दिया जाता है। इसलिए सैनिकों पर उनके अनुशासन और कठोरता के रहते हुए भी अहिंसक नागरिकों के व्यवहार का परिणाम पड़ने लगेगा।

सैनिकों के मन म आश्चर्य उत्पन्न होगा। प्रत्येक सैनिक अपने मन में विचार करना प्रारम्भ करेगा। फ्रेडरिक महान् ने लिखा है कि 'यदि

मेरे सिपाही विचार करना प्रारंभ कर दें, तो वे एक भी सेना में न रहेंगें। ' ज्यों ही कोई सैनिक किसी विशेष विषय का विचार करना प्रारंभ करता है, त्यो ही वह एक पृथक् व्यक्ति बन जाता है और उसका मस्तिष्क और व्यक्तित्व सारी सेना के सामहिक मस्तिष्क और व्यक्तित्व से पृथक् होने लगता है। इस प्रकार लड़ाई के बीच मे किसी सिपाही के मस्तिष्क में ज्योही विचार उत्पन्न होना प्रारभ हुआ, त्यो ही उसके साहस और अनुशासन के भग होने की शुरुआत होगई।

अब अहिंसक नागरिकों के साथ जसे-जैसे लड़ाई चलती जायगी और अहिंसक नागरिक अपना अनुशासन और प्रसन्नचित्तता कायम रखते हुए सच्चे हृदय और ईमानदारी के साथ अपने पक्ष को बराबर कहते जायगे, तो कभी-न-कभी सैनिक भी उनके विषय मे आपस में बातचीत करना प्रारभ करेंगे। उनके मन में शका होगी कि "ये नागरिक तो बिलकुल शात, निरपराध और सच्चे दिखने है, इनका अपराध क्या है, हम सैनिकों को ऐसे कार्य के लिए क्यो बुलाया गया है, हम तो युद्ध-कर्म के लिए हे परतु यहा तो शाति है।" सैनिको के मन में नागरिकों के साथ सहानुभूती उत्पन्न होगी। वे खुले या छिपे रूप में उनसे सहानुभूति करने लगेंगे और लड़ाई के विषय की अधिक जानकारी उन्हे हो जायगी। उन्हे प्रतीत होगा कि हमारा पक्ष तो ठीक नही जचता, बल्कि नागरिको का पक्ष ही अधिक सत्य है। यदि अफसर विरोधियों से सहानुभूति रखने का निषेध करेगे तो उन्हें प्रतीत होगा कि अफसरों का हुक्म मूर्खतापूर्ण या कायरतापूर्ण है। इससे उनके मन में अफ़सरों का सम्मान कम हो जायगा। सम्भवतः वे अफसरो के आज्ञापालन करने में ढील करने लगेंगे। श्री. एच. सी. लार्ड नामक लेखक का कथन है कि जब "शका उत्पन्न हो जाती है तो साहस टूट जाता है।" ड्यूक आफ वेलिंगटन और भी जोर के साथ कहते है कि "जिस व्यक्ति के हृदय में अपनी विवेक-भावना ज़रा-सी भी है, वह सैनिक बनने के योग्य ही नही है।" सैनिक के साहस का एक आधारभूत अंग यह भावना भी है कि मैं संरक्षक हूं। किन्तु जब यह भावना मिट जाती है तो उसे

व्यर्थता प्रतीत होती है। अहिंसकों पर हिंसा करने में कोई बड़प्पन नहीं है। संभवतः सैनिक यह अनुभव भी करने लगते हैं कि हमारे अफ़सरों ने नैतिक रूप से हमें गिराया है या हमसे अनुचित कार्य कराया है। इस परिस्थिति में उनका साहस और भी जल्दी टूट जायगा।

अफ़सरों के लिए भी यह परिस्थिति बड़ी परेशानी की होगी। उन्हें आशंका रहेगी कि यदि उन्होंने ज़रा भी गलती की तो सिपाहियों में और सामान्य जनता में उनका सम्मान घट जायगा। यदि वे गोली चलाने का हुक्म देंगे तो निस्सन्देह ही व्यापक लोकमत उनके विरुद्ध हो जायगा। वे युद्ध करना तो जानते हैं किन्तु यह तो वाहियात काम है। लेफ्टिनेंट कर्नल एन्ड्रयूज़ का कथन है कि "अफ़सर दंगों की ड्यूटी से स्वभावतः ही डरते हैं, क्योंकि उनमें अनेक नाज़ुक परिस्थितियां उत्पन्न होती हैं और उन्हें संभालना बड़ा अनिश्चिततापूर्ण रहता है।" इस परिस्थिति में तो दंगा नहीं हो रहा है, किन्तु स्थिति यहां भी उतनी ही नाज़ुक होती है, संभवतः ज़्यादा नाज़ुक होती है। सिपाहियों को लड़ाई करने का शिक्षण दिया जाता है किन्तु इस परिस्थिति में तो सर्वत्र शांति रहती है। अकर्मण्यता से भी सिपाही का साहस टूट जाता है।

कुछ लोग यह आपत्ति कर सकते हैं कि अहिंसक प्रतिरोध भी तो मुख्यतः संरक्षणात्मक और निष्क्रियतापूर्ण होता है, उससे अहिंसक नागरिक भी थक कर साहस खो देंगे। ऐसी बात नहीं है। अहिंसक प्रतिरोधी केवल निष्क्रिय प्रतीक्षा या कष्ट-सहन ही नहीं करता। वह अपने विरोधी के प्रति शारीरिक बल-प्रयोग नहीं करता, किन्तु उसका मन और भावनायें तो सक्रिय रहती हैं। निरंतर विरोधी के दिल में वह विश्वास उत्पन्न करने का यत्न करता रहता है कि वह भूल कर रहा है, वह दूसरा अच्छा उपाय निकालने की योजनायें सोचता रहता है, वह अपने लक्ष्य और संगठन की जांच करने और उसके दोषों को दूर करने का यत्न करता रहता है, वह निरन्तर विचार करता रहतां है कि किस-किस प्रकार से ऐसा सत्य खोजा जा सकता है जो दोनों पक्षों के लिए

ठीक हो। अपने समूह में वह निरंतर संगठन मज़बत करने, समझ को साफ़ करने और हर प्रकार के दोषो को दूर करने का कार्य करता रहता है।

अधिकांश सिपाही अकर्मण्यता और एकरसता से ऊब उठेंगे। वे इन नागरिको के अद्भुत व्यवहार पर ही विचार करने लगेंगे। अहिंसक प्रतिरोधियो के साहस और धर्म से सैनिक और दर्शकों या सामान्य जनता में प्रशंसा-भाव उत्पन्न हो जायगा। सब लोग यह अनुभव करेंगे कि अफसरों ने गलत तरीका पसंद किया है। यह मामला तो किसी अदालत, या पंचायत, या आपसी वाद-विवाद मे तय होने योग्य है। इस अनुभूति से अफ़सरों और सैनिको के बीच और उच्च अधिकारियों और छोटे अधिकारियो के बीच मतभेद पैदा हो जायगा। यदि यह स्थिति कई हफ्तो या महीनो तक चलती रहती है तो अफ़सर और भी परेशान हो जाते है। उन्हें अपनी परिस्थिति हास्यास्पद मालूम होती है कि ऐसे निरपराध निःशस्त्र, भले लोगो के प्रति उन्हे इस प्रकार का व्यवहार करना पडता है। न तो अफ़सरो को और सिपाहियो को ही यह अनुभव होता है कि वे किसी जान या माल की रक्षा कर रहे हैं। इससे उनके दिल मे अपनी आत्मप्रतिष्ठा घटती है।

संभवतः अहिंसक प्रतिरोधियों के विरुद्ध घृणा का प्रचार भी किया जायगा। यह बताया जायगा कि वे निहायत गन्दे है, अनपढ हैं, बदतमीज़ हैं, बदमाश है, पतित हैं, जंगली है, अत्यंत घृणित हैं, इत्यादि। किन्तु सैनिकों को निकट अनुभव से प्रतीत हो जायगा कि ये आक्षेप झूठे है और अहिंसक प्रतिरोधी तो वास्तव में साफ़ हैं, सभ्य है, सुव्यवस्थित हैं, बुद्धिमान हैं, व्यवहार के भी सच्चे और साफ़ हैं और साहसी हैं। वे उनसे घृणा न कर सकेंगे। जब सम्मान की भावना उत्पन्न हो जाती है तो सभ्य व्यवहार करने की प्रवृत्ति होने लगती है। ऐसी ही घटना-पिछले योरोपियन महायुद्ध के समय हुई थी। महायुद्ध के प्रथम क्रिसमस त्यौहार के अवसर पर जर्मनी और मित्रराष्ट्रों की सेनाओं ने मैत्री व्यवहार किया था। यदि प्रारंभ में अहिंसक प्रतिरोधियों का अनुशा-

सन ठीक न रहा हो, तो भी अपने आदर्श के पक्के होने के कारण उनका अनुशासन अधिक मजबूत हो जायगा। सैनिकों को प्रतीत होगा कि अहिंसक प्रतिरोधियों के विषय में उनके अफ़सरों के विचार या तो भ्रमपूर्ण हैं या वे जानबूझकर झूठ बोल रहे हैं।

यदि किसी अफ़सर का दिमाग बिगड़ गया, या उसने सोचा कि इन लोगो को भयभीत करना चाहिए या इन्हें 'सबक सिखाना' चाहिए, तो वह गोली चलाने का हुक्म दे देगा और कुछ अहिंसक प्रतिरोधी मर जायेंगे या जख्मी हो जायंगे इसका प्रभाव विद्युत्वेग से होगा। उपस्थित लोग तो थोड़ी देर के लिए भयभीत हो जायंगे। किन्तु इसका समाचार अवश्य ही सर्वत्र फैल जायगा और उस अफ़सर और उन सनिको के विरुद्ध तीव्र लोकमत हो जायगा। भारत में जलियांवाला बाग में ऐसी ही घटना हुई थी। उस स्थान पर जिन लोगों ने प्राण दिये, उन्होंने देश-देशान्तर में ब्रिटिश आत्मसम्मान और ब्रिटिश गौरव को नीचे गिराने का इतना कार्य किया जितना कि उससे तिगुने आदमी भी हिसात्मक दंगा करके या सेना पर आक्रमण करके नहीं कर सकते थे। निःसंदेह ऐसे कार्य अपने-आप को दूसरी जातियों के संरक्षण के ठेकेदार समझने वाले अन्य राष्ट्रो अमेरिका, फ्रांस आदि के सैनिकों ने भी किये हैं। संयुक्तराष्ट्र में १९२९ में पेन्सिलवेनिया कोयला कम्पनी की पुलिस ने एक हड़ताली खनिक को मार दिया था। ऐसे कार्य कोई राष्ट्र-विशेष ही नही करता, बल्कि एक विशेष प्रकार का लक्ष्य या विश्वास रखने वाला प्रत्येक व्यक्ति करता है। विशेष रूप से कहने का तात्पर्य यह है कि यदि कोई अहिसक प्रतिरोधी मर भी जाता है, तो भी वह अपने हिंसक विरोधियों के साहस और अनुशासन को कमज़ोर करने और अपने लक्ष्य को आगे बढ़ाने का कार्य हिंसात्मक प्रतिरोध की अपेक्षा अधिक कर जाता है।

यदि सरकार सैनिकों के बजाय पुलिसवालों का प्रयोग करती है, तो उनके साहस और अनुशासन पर प्रभाव कुछ भिन्न रीति से पड़ेगा। पुलिसवाले प्रायः उसी ज़िले के होते हैं, उनके जनता से अधिक निकट

संबंध होते हैं । वे प्रायः विवाहित होते हैं, इसलिए अपनी पत्नियों के द्वारा भी उन पर लोकमत का अधिक प्रभाव पड़ सकता है। यदि नये-नये लोगों की भर्ती की जायगी, तो उनका अनुशासन कमज़ोर होगा और वे सख्तियां या अत्याचार अधिक करेंगे। इससे भी लोकमत सरकार के और उनके विरुद्ध हो जायगा।

यदि सैनिक जहरीले गैसों का प्रयोग करें, जिससे कि मृत्यु हो जाय या अंग विकृति हो जाय या हवाई जहाजो से बम फेंके तो क्या परिणाम होगा? ऐसी घटनायें अधिक होने की सभावना तो नही है, किन्तु फिर भी हुई है। ऐसी स्थिति मे सैनिक और अहिंसक प्रतिरोधियों के बीच प्रत्यक्ष सम्पर्क उत्पन्न न होगा और उनके साहस तथा अनुशासन में कमजोरी न आयगी । किंतु ऐसे आक्रमण के कारण प्रतिरोधियों के लोगो में-से ही उनके साथ सहानुभूति करने वाले इतने अधिक बढ़ जायंगे कि बहुत पूर्ण व्यापारिक बहिष्कार या घरेलू या औद्योगिक हड़ताल का सगठन किया जा सकेगा। ऐसे बहिष्कारो का प्रभाव हज़ारो मील दूर तक, दूर-दूर के देशो पर भी पडता है और इससे हिंसक लोगों को उनके स्थायी आतंकवाद के लाभ की अपेक्षा बहुत अधिक हानि हो जाती है । इससे सर्वत्र उनकी प्रतिष्ठा कम हो जाती है और भविष्य में इन घटनाओ की पुनरावृत्ति के अवसर कम हो जाते है । और जब इस प्रकार की घटनाओ की पुनरावृत्ति कम हो जाती है, तो अहिंसक प्रतिरोधियों को विरोधियो के साहस और अनुशासन कमज़ोर करने के अन्य अवसर मिलने लगते हैं ।

युद्ध में जान से मारने की अपेक्षा घायल करना अधिक उपयोगी समझा जाता है, क्योकि घायल की सेवा शुश्रुषा के लिए अन्य व्यक्तियों को फंसना पड़ता है और देखने वालो का दिल कमज़ोर पड़ता है। किन्तु अहिंसक प्रतिरोधियो के विषय में यह बात सत्य नही है। अहिंसक प्रतिरोधी हिंसक सैनिक की अपेक्षा अधिक निःस्वार्थता, अधिक उच्च साहस और अधिक गहरे विश्वास को प्रकट करता है । इसलिए उसके घायल होने के दृश्य से हिंसक सैनिक की अपेक्षा अधिक पवित्र, व्यापक सक्रिय

और धैर्यपूर्ण सहानुभूति तथा लक्ष्य की दृढ़ता उत्पन्न होगी। अहिंसात्मक प्रतिरोध में तो कष्ट सहिष्णुता ही विजय का शत्रु है। इसलिए घायल होने से प्रतिरोधियो का साहस और अनुशासान कमजोर न होगा। इसी प्रकार जेल की सजा से भी कमजोर न होगा।

किसी-न-किसी अवसर पर उन सैनिको के अफसरों या उस सरकार के प्रतिनिधियो और अहिसक प्रतिरोधियों के नेताओं के बीच समझौते के लिए बातचीत तो होगी ही। इस प्रकार की बात-चीत से सम्पर्क बढ़ेगा, सम्पर्क से अपने विरोधी को परिवर्तित करने का और भी अवसर मिलेगा। युद्ध की भाषा मे कहें, तो उनके साहस को और भी गिराने का अवसर मिलेगा। जब कभी हिसक विरोधी समझौते की बातचीत करने का निमन्त्रण देगे तभी अहिसक दल उनसे बातचीत करेगे, भले ही यह प्रतीत होता हो कि प्रतिरोध जारी रखने से वे हिसक लोग अवश्य पराजित किये जा सकते है, अथवा आशंका होती हो कि वे समय टालने या अहिसको की एकता भग करने की चाल चल रहे है। समझौते की बातचीत करने की इच्छुकता से हिसक विरोधी पर और ससार पर यह प्रभाव पड़ेगा कि अहिसक प्रतिरोधी विरोधी को अपमानित करने की इच्छा नही रखते और इस प्रकार विरोधियों का हृदय-परिवर्तन करने और एक मात्र सच्चे ढग की विजय प्राप्त करने का रास्ता साफ हो जायगा। इसका एक उदाहरण है सन १९३०–३१ के सत्याग्रह में गांधीजी का वायसराय लार्ड इरविन से समझौते की चर्चा करना।

यह स्मरण रखने योग्य बात है कि निर्दयतापूर्ण कृत्य अन्ततः संसार को मालूम हो ही जाते है। सरकार की निन्दा विदेशी राष्ट्र के लोग तो करते ही है, परन्तु उसीके समझदार नागरिक भी करते हैं। ये लोग उस पर लोकमत का इतना दबाव डाल सकते हैं कि उसे अपने तरीके बदलने पड़ें। यह भी सही है कि स्थान पर कार्य करने वाले सैनिकों की अपेक्षा कभी-कभी दूर बैठे सिविलियन अफसर अपने अभिमान और दीर्घकालीन प्रचार के परिणाम से अधिक अकड़े हुए और न झुकने वाले होते है। किंतु जब उनका भी साहस थोड़ा ढीला पड़ता है तो वे भी

बहुत जल्द निराश हो जाते हैं, क्योंकि उनमें तो सैनिकों का-सा अनुशासन नहीं होता।

अनुभवी लोग कह सकते हैं कि ऐसी घटनायें प्रायः सरकारों द्वारा सेन्सर के जोर से छिपाई जाती हैं। ऐसा कभी-कभी होता भी है। जलियावाले बाग की घटना अमेरिका में आठ महीने तक नहीं पहुंची थी और अमेरिकन नौसेना के सैनिकों के हैटी और निकारगुआ के कृत्य कई महीनों तक छिपे रहे। किंतु फिर भी ऐसे समाचार कभी-न-कभी मालूम हो ही जाते हैं। आजकल देश-विदेश के यात्री और व्यापारी सब देशों में भ्रमण करते रहते हैं और संसार के समाचारपत्रों के संवाददाता इसी तलाश में रहते हैं कि कहीं-न-कहीं से कोई गुप्त संवाद खोज निकाला जाय; और लोगों में भी गुप्त बात जानने की उत्सुकता रहती है। राष्ट्रों में परस्पर विद्वेष भी रहता है जिससे वे एक दूसरे को गिराने वाली बात ढूंढने और प्रकाशित करने का यत्न करते ही रहते है। इससे कोई समाचार छिपा नहीं रह सकता। यदि उस क्षेत्र में जहा अहिंसात्मक लडाई चल रही हो, सरकार समाचार छापने की मुमानियत कर देती है तो लोग सरकारी वक्तव्यों पर विश्वास करना छोड़ देते हैं और आपस में फैली हुई अफ़वाहों या खबरों को ज्यादा मानने लगते हैं।

शक्तिशाली शासकवर्ग प्रायः अपने विरोधी दलों या राष्ट्रों के बारे में निन्दात्मक प्रचार बहुत करवाते हैं जिससे कि सत्य छिप जाय। समझदार आदमियों को ऐसे प्रचार से बहुत सावधान रहना चाहिए। पीड़ित दलों को तो जो अहिंसात्मक प्रतिरोध में लगे हों, यह विश्वास रखना चाहिए कि सत्य अंत में अवश्य प्रकट होगा और उससे झगड़े के अच्छी प्रकार निपटारा होने में सहायता मिलेगी।

गांधीजी के सत्याग्रह में एक और विशेषता है जिससे सेन्सर का काम ही कमजोर पड़ जाता है। वह सत्य पर बहुत ज़ोर देते थे और किसी प्रकार के भी गुप्त तरीकों को सहन नहीं करते थे। वह जो कुछ करना चाहते थे उसीकी सूचना काफ़ी पहले से अधिकारियों को दे देते थे।

और अपनी धारणा और स्थिति भी साफ प्रकट कर देते थे। इस प्रकार की खुली घोषणा की लड़ाई में उदात्ततम वीरता का पूरा नैतिक लाभ मिलता है। गुप्तता से असत्य या भय प्रकट होता है। इससे अहिंसकों के साहस में या अहिंसामार्ग की शक्ति में कमी आ सकती है।

अहिंसकों को तो अपना अनुशासन, संगठन, नम्रता और साहस बढाने का यत्न करना चाहिए। उन्हें अपने शरीर, वाणी, वस्त्र, मकान, और शहर भी साफ रखने चाहिएं। फिर तो उनकी बात सेन्सर को भी छेद कर सर्वत्र फैल जायगी। अहिंसकों को समझना चाहिए कि यदि उन्होने अनुशासन में कमजोरी दिखाई, या हिंसा, असत्य, गुप्तता या अव्यवस्था में पड़े तो वे अपने कार्य मे हानि पहुंचायंगे और विजय में देर लगायंगे। यदि वे अनुशासन-हीनता से न बचेंगे, तो उन्हें पूरी तरह पराजित होना पडेगा। इस प्रकार अपनी आत्मशुद्धि से उनका सम्मान बढ़ेगा। उनका सम्मान बढ़ने से विरोधियों का साहस अवश्य कम होगा।

निर्दयता सम्बन्धी एक बात और भी है जिस पर विचार कर लेना चाहिए ; वह है घेरा डाल कर भूखों मारना। पिछले योरोपियन महा-युद्ध में जर्मनी पर घेरा डाल कर उसे कमजोर कर दिया गया था। किंतु युद्ध समाप्ति के बाद जर्मन क्रय शक्ति की कमजोरी का प्रभाव सब देशों पर बुरी तरह पडा। मित्रराष्ट्रों के व्यापारी और बैंक इससे दीर्घकाल तक परेशान हुए। किसी सम्पूर्ण राष्ट्र के विरुद्ध इस प्रकार का उपाय प्रयुक्त करने का साहस बडे जहाजी राष्ट्र तो करने से हिचकेंगे। छोटे समूहों के विरुद्ध भी कोई सरकार यदि इस साधन का प्रयोग करेगी तो उससे उसकी प्रतिष्ठा गिरेगी। मेक्स्विनी की भूख हड़ताल के उदा-हरण को ही देखिए।

ब्रिटिश साम्राज्य और संयुक्त राष्ट्र (अमेरिका) आदि देशों के शासक-वर्ग अपने व्यवहार का समर्थन नैतिक दृष्टि से करने का बहुत प्रयत्न करते हैं, या कम-से-कम नैतिकता का दिखावा तो अवश्य ही करते हैं। उनमें अभिमान या उच्चता की भावना रहती है और वे अपनी प्रतिष्ठा

का बड़ा ध्यान रखते है। किन्तु यदि ये देश सच्चे अहिंसक लोगों के प्रति क्रूरतापूर्ण काम कर डालेगे, तो उसका समाचार अवश्य कभी-न-कभी बाहर प्रकट होगा और इनकी प्रतिष्ठा को हानि पहुंचेगी। आजकल सारे ससार का लोकमत कठोर हिसा और क्रूरता के कृत्यो की निन्दा ही करता है, यदि एक बार घृणा या भय के प्रचार का असर हट जाय। आजकल हम चगेजखा, या एटिला, या नेबूचडनेजर के क्रूरयुग मे नही रहते। इस-लिए अहिसक प्रतिरोधियों को इन शासक-वर्गों की प्रतिष्ठा कायम रखने की भावना से भी बल मिलेगा।

इससे सिद्ध होता है कि अहिमात्मक प्रतिरोध से शस्त्रीकरण की उपयोगिता ही कम हो जाती है। एक युद्धवादी लेखक का कथन हैं:—

"युद्ध मे शत्रु के साहस को तोड़ना चाहिए। (१) शत्रु के राष्ट्र और उसके शासक-मण्डल के उत्साह कौर साहस पर नैतिक आक्रमण करना चाहिए। (२) शत्रु-राष्ट्र की नीति पर आक्रमण करना चाहिए। (३) उसके सेनाध्यक्ष को योजना के विरुद्ध आक्रमण करना चाहिए। (४) उसके सैनिको के अनुशासन और हिम्मत को भंग करना चाहिए। इनमें-से चौथी बात तो सबसे कम महत्व की है, किन्तु अभी तक रूढिवादी सैनिको ने केवल इसी पर अधिक ध्यान दिया है। शेष तीन बातो पर अधिक ध्यान देना चाहिए।"

अहिसात्मक प्रतिरोध तो इन चारों बातो पर ही आक्रमण करता है। और इसके अलावा उसमे आर्थिक बहिष्कार और कभी-कभी करबन्दी भी शामिल रहते है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि अहिंसात्मक प्रतिरोध शत्रु की हिम्मत तोडने मे युद्ध-मार्ग से भिन्न नही है। किन्तु वह युद्ध-शास्त्र के तर्क के अनुसार उससे भी आगे का कदम है।

सामूहिक अहिसात्मक प्रतिरोध से शत्रु की हिम्मत टूटने के अति-रिक्त उसका उपयोग करने वालो की हिम्मत और एकता बढती है। स्वेच्छापूर्ण कष्ट सहन के दृश्य से उन लोगों में भी सहानुभूति उत्पन्न हो जाती है, जो तटस्थ होते हैं। भारतवर्ष के सत्याग्रह आन्दोलन में ऐसा हुआ है। युद्ध में तो राजनीतिज्ञ और सेनाध्यक्ष लोग आराम

से सुरक्षित स्थानों पर रहकर दूसरों को अमुक कार्य करो, इस प्रकार करो आदि आदेश देते रहते है; किंतु अहिंसात्मक प्रतिरोध में तो नेता स्वय कष्ट, अपमान-चोट और जेल-यातना सहन करते है। तथा अपने उद्देश्य के लिए अपनी सम्पत्ति का भी बलिदान करते है। इस प्रकार के प्रत्यक्ष उदाहरणों से युद्ध की अपेक्षा संख्या, एकता, उत्साह, विश्वास और कार्य-प्रयत्न में वृद्धि होने की अधिक संभावना रहती है। शहीदों के खून से ही कार्य का पौधा उगता है। अहिसात्मक प्रतिरोध से तटस्थ और कायर लोग भी तरह-तरह से सहायता देने लगते है। बुद्धिवादी लोगों की शंकाये मिट जाती हैं और वे सम्मिलित हो जाते है। दीर्घ-काल तक कष्ट सहन के दृश्यो से आपसी मतभेद मिट जाते है और राष्ट्रीय आन्दोलन में साम्प्रदायिक या सामाजिक मतभेद भी धीरे-धीरे मिटने लगते है। कभी-कभी जब अहिसक प्रतिरोधी जेलो में होते है तो कुछ स्वार्थी या अवसरवादी लोग राजनीति में आ कूदते हैं और विरोधी शक्ति से सौदा करने लगते है। किंतु आम लोगों का विश्वास तो जेल में पडे हुए लोगो पर ही रहता है और इन अवसरवादियो को भी जनता के साथ ही चलना पड़ता है और विरोधी शक्ति का साथ छोड़ना पडता है।

कभी-कभी विरोधियों के साहसभंग होने की अपेक्षा अहिंसकों की एकता तथा संख्या की वृद्धि अधिक शीघ्रता से होती है। अहिसको की संख्या और सगठन की वृद्धि से भी विरोधियो का साहस कम होता है। युद्ध में भी राष्ट्र के अन्दर एकता बढ़ती है, किंतु अहिंसात्मक प्रतिरोध की एकता अधिक गहरी और स्थायी होती है।

पराधीन राष्ट्रों में दीर्घकालीन परतन्त्रता से हीनत्व भावना उत्पन्न हो जाती है। किंतु अहिंसात्मक प्रतिरोध से यह दोष दूर होने लगता है और उनमें आत्मविश्वास और प्रतिष्ठा-भावना उत्पन्न हो जाती है। हिंसक विरोधी जब कोई क्रूर कार्य या असत्य प्रचार या और कोई गलती कर बैठते हैं तो अहिंसक प्रतिरोधियों को अपनी नैतिक और मानसिक उच्चता की भावना प्रतीत हो जाती है। मनोविज्ञान के अध्ययन करने

वाले जानते है कि शासकवर्ग अपने पराधीन लोगों में गुलामी और हीनता की भावना बालकपन से ही उत्पन्न करते हैं और उसे बढाते रहते हैं, जिससे उनमें स्वतत्र विचार और कार्य की प्रवृत्ति ही उत्पन्न न होने पाये। इसलिए पराधीन राष्ट्रो या वर्गो के लिए अहिंसात्मक प्रतिरोध अत्यन्त उपयोगी है।

सामूहिक सत्याग्रह की सफलता का एक कारण यह भी है कि व्यक्तिगत सत्याग्रह की भांति लोकमत का समर्थन इसे भी प्राप्त होता है और यह एक बडा भारी बल है। यह इसीसे समझा जा सकता है कि युद्ध मे भी प्रचार द्वारा लोकमत का समर्थन प्राप्त करने का बडा प्रयत्न किया जाता है।

युद्ध की विजय भय और आतंक स्थापित करने वाली होती है और उसके द्वारा प्राप्त किया हुआ सहयोग या मित्रता बहुत ही अस्थायी होती है। किंतु सत्याग्रह की विजय में कोई स्वार्थ या आतंक नहीं होता, सचाई और मित्रता का भाव होता है। वह वीरतापूर्ण और आनन्दपूर्ण होती है और अत में कोई कटुता शेष नही रहती।

सामूहिक सत्याग्रह से एक लाभ यह भी होता है कि इससे सामाजिक दोष, आर्थिक गलतिया और राजनैतिक भूले सुधार ली जाती है। अनेक दुर्गुण मिटने और सद्गुणो के उत्पन्न हो जाने से समाज की शुद्धता और पवित्रता बढ़ती है। सत्याग्रह लंबे समय तक चलने से समाज को राजनैतिक शिक्षण मिलता है। सत्याग्रह से दोनो पक्षो के उद्देश्य स्पष्ट हो जाते हैं और उनकी परीक्षा भी हो जाती है। सत्याग्रह से हिंसात्मक दल की भी गलतियां सुधरती हैं और दोनो पक्ष सत्य के अधिक समीप पहुंचते है। युद्ध की भांति सत्याग्रह से भी महत्वपूर्ण सार्वजनिक प्रश्नों का निर्णय होता है और इस प्रकार प्रश्नो के निर्णय में गलतियों का सुधरना और दूर होना भी बड़ा लाभदायक है। यद्यपि युद्ध द्वारा भी कुछ सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक गलतिया दूर होती है, किन्तु उसमें क्रोध और घृणा के मिले रहने से सत्य पूरी तरह प्रकट नहीं होता, इसलिए युद्ध उतना सफल नहीं हो सकता।

संभवतः कुछ पाठकों को प्रतीत होगा कि अहिंसात्मक प्रतिरोध तो एक ऐसा साधन है जिससे कोई भी व्यक्ति या समुदाय डर नहीं सकता। किन्तु ऐसी बात नही है। कारखानेदार शांतिपूर्ण हड़तालों से और साम्राज्यवादी शासक पराधीन राष्ट्रों के अहिंसात्मक प्रतिरोधों से बड़े डरते है और उनका महत्व समझते हैं। साम्राज्यवादी शासक या कारखानेदार अपने उत्तेजना उत्पन्न करने वाले एजेण्ट अहिंसक प्रतिरोधियों में भेजते है, जो उन्हें हिंसापूर्ण कार्यों या भाषणों के लिए उभाड़ते हैं, या स्वयं भी ईंट, पत्थर, बम फेंकने के या अन्य हिंसा के कार्य कर डालते है। इससे उन्हे दमन का मौका मिल जाता है। रूस के ज़ारशाही शासन में यही तरीका काम में लाया जाता था। इन तरीकों का प्रयोग करने की इच्छामात्र से सिद्ध होता है कि अहिसात्मक प्रतिरोध का कितना भय होता है।

अहिसात्मक प्रतिरोधियों को क्रोध या कटुता रखे बिना इस बात का प्रत्युपाय करना चाहिए। सारी परिस्थिति में इसी एक बात की उन्हे विशेष सावधानी रखनी है। उनका बचाव तो इसी प्रकार हो सकता है कि वे प्रत्येक सत्याग्रही को मन, वचन और कर्म में अहिंसक रहने का पूर्ण शिक्षण दें। उन्हे सत्याग्रह का पूर्ण तत्व अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। उन्हें अपने अनुशासन द्वारा क्रोध के भावोद्वेग और लडाकूपन की स्वाभाविक वृत्ति पर उसी तरह और उसी सीमा तक संयम कर लेना चाहिए, जिस तरह और जिस सीमा तक कि सैनिक अनुशासन में भय के भावोद्वेग और पलायन की स्वाभाविक वृत्ति पर किया जाता है। इसलिए इस नवीन अनुशासन में विरोधी के उसके हित के विपरीत कोई हिंसात्मक वचन कहना या कार्य करना, लक्ष्य के प्रति उतना ही विश्वासघातपूर्ण बना देता है जितना कि युद्ध में पलायन करना। जिस प्रकार आजकल विद्यार्थियों में या सैनिकों में कायरता अपमानजनक और निदनीय समझी जाती है, उसी प्रकार क्रोध भी अपमानजनक और निंदनीय होना चाहिए। यदि इस प्रकार का अनुशासन कायम हो जायगा तो जब कोई उत्तेजना उत्पन्न करनेवाला एजेण्ट या

बम फेंकने वाला या हिंसात्मक भाषण देने वाला व्यक्ति आयगा तो उसका रहस्य तुरन्त खुल जायगा।

यह आशका हो सकती है कि ऐसे राष्ट्रों की सेनाओ के विरुद्ध तो अहिंसात्मक प्रतिरोध असफल ही रहेगा, जो हृदयहीन या अत्यन्त क्रूर कहे जाते है। निस्सन्देह, ऐसी परिस्थिति में हानिया अधिक होंगी, कदाचित् काफ़ी हानिया हो सकती है। क्रॉमवेल द्वारा आयर्लेण्ड की विजय, और उन दिनो के कानूनो और दण्डो के इतिहास से स्पष्ट प्रकट होता है कि उस शताब्दि मे अग्रेज क्रूर और हृदयहीन थे, फिर भी उनके विरुद्ध क्वेकर लोगो का अहिसात्मक प्रतिरोध सफल रहा। जंगली लोग भी सहस का सम्मान करते है और अधिक धोखेबाज या दृढ संगठित राष्ट्रों की अपेक्षा उन पर असाधारण घटनाओ के कारण आश्चर्य का अधिक सरलता से परिणाम हो सकता है। अहिसात्मक प्रतिरोध का परिणाम तो मनुष्यमात्र पर होता है, केवल सुसस्कृत लोगो पर ही नही। अहिसा-त्मक प्रतिरोध की मनोवैज्ञानिक शक्तियो का भिन्न-भिन्न राष्ट्रों पर भिन्न-भिन्न प्रकार से परिणाम होगा, किन्तु सभी पर अवश्य और पूर्ण परिणाम होगा, जैसे कि हिसात्मक युद्ध का भी परिणाम सब प्रकार के राष्ट्रो पर हुआ है।

: ७ :

युद्ध का सफल पर्याय

युद्ध की भीषणताओ, विफलताओ और विनाशकताओ के होते हुए भी उसमें अनेक सद्गुण और सत्यताए भी है। झगड़े निपटाने के नये तरीको पर विचार करते समय हम युद्ध के गुणों की उपेक्षा नही कर सकते।

युद्ध की मोहकता एक सन्देहरहित वस्तु है, विशेषतः उन लोगों के लिए जिन्हें कि आधुनिक युद्ध मे कभी भाग नही लेना पड़ा है। युद्ध में अपार स्फूर्ति, जीवन और चेतना फूट पड़ती है। इसमें गौरव,

बलिदान, एकता, साहस, उत्साह, सावधानता, बुद्धिमानी, व्यवस्था, अनुशासन, आत्मविश्वास, मजबूती, बल और स्वास्थ्य की भावना होती है। हमारा सामान्य जीवन प्रायः इतना निकृष्ट, एकरस और मन्दता-पूर्ण रहता है कि इस कारण भी हमको युद्ध में ये सब गुण दिखाई देने लगते हैं। हृदय इस नीरस लक्ष्यहीन जीवन से ऊबकर चिल्ला उठाता है कि इससे छूटने के लिए तो कैसा भी खतरा हो, उठाना अच्छा होगा।

खतरा उठाने में अपार आनन्द इसलिए आता है कि हम समझते हैं कि उसके बाद अपनी सोची हुई बातों को कार्यान्वित कर सकेंगे। किन्तु युद्ध में केवल मोहकता ही नही है, कुछ सद्गुण और सत्यताएं भी हैं।

हिंसात्मक युद्ध में और योद्धाओमें इतने सद्गुण प्रतीत होते हैः— (१) साहस (२) कार्यशक्ति (३) अपने लक्ष्य के प्रति श्रद्धा (४) अनुशासन (५) कष्टसहन की शक्ति और (६) परस्पर एकता। उसका यह सिद्धात कि जीवन में सघर्ष या झगडा एक आवश्यक भाग है, यह भी एक सत्यता है जिससे कोई इनकार नही कर सकता।

जब हम अहिंसात्मक प्रतिरोध की क्रियाओं पर विचार करते हैं तो हमें अनुभव होता है कि युद्ध के इन सब सद्गुणों और सत्यताओं का इस नये मार्ग मे भी पूर्ण विकास होता है। यदि कोई राष्ट्र या समूह युद्ध के बजाय अहिंसात्मक प्रतिरोध को ग्रहण करेगा, तो उसको नैतिक हानि नहीं होगी।

विलियम जेम्स ने अपने लेख 'युद्ध का नैतिक पर्याय' (A moral equivalent for war) और वाल्टर लिपमैन ने अपने लेख 'युद्ध का राजनीतिक पर्याय' (A Political equivalent of war) में इस प्रश्न की चर्चा की है कि केवल यही काफ़ी नहीं है कि युद्ध का कोई ऐसा पर्याय ढूढा जाय, जिसमें युद्धसम्बन्धी सब सद्गुणों का समावेश हो ; युद्ध द्वारा मनुष्य-जाति के बड़े-बड़े प्रश्नों का निपटारा होता है; इसलिए दूसरा उपाय ऐसा ढूंढना होगा, जिससे उन प्रश्नों का निपटारा हो सके जो अभी तक युद्ध द्वारा निपटते थे। युद्ध के अतिरिक्त ऐसा

कोई उपाय होना चाहिये। क्या वह उपाय अहिंसात्मक प्रतिरोध या सत्याग्रह है? गम्भीर विश्लेषण से प्रतीत होगा कि ये शर्तें इससे पूर्ण हो जाती हैं। अहिंसात्मक प्रतिरोध मे केवल सैनिक सद्गुणों का उपयोग ही नहीं होता, किंतु नैतिक धरातल पर युद्ध के अनेक तरीकों और सिद्धांतों का भी प्रयोग होता है, युद्ध की ही अनेक मनोवैज्ञानिक क्रियाओ का उपयोग होता है और नैतिक संशोधनों के साथ कई युद्ध सम्बन्धी लक्ष्यो का भी ध्यान रखा जाता है। सैनिक लोग मनुष्य-स्वभाव की अनेक बातो का ज्ञान रखते है, किंतु अहिंसक प्रतिरोधी तो और भी अधिक ज्ञान रखते है। यदि भूतकाल में मनुष्य जाति के महान निर्णयों के करने का उपाय युद्ध रहा है, तो इस कार्य के लिए यह नया उपाय अब और भी ज़्यादा कारगर होगा।

युद्ध काल के ही सिद्धान्त अहिंसात्मक प्रतिरोध में प्रयुक्त होते है। वान क्लाजविट्ज के युद्ध-सम्बन्धी सिद्धात सक्षेप-रूप में निम्न प्रकार हैं :—

"क्रियारम्भ अपने हाथ में रखना, शत्रु को आक्रमण करने देना और अपना प्रत्याक्रमण इतने ज़ोर का करना कि उससे ही विजय प्राप्त हो जाय, इस बात का निश्चय कर लेना कि किसी विशेष बात से विजय हो सकती है, फिर उस निर्णयात्मक बात पर ही मुख्य ज़ोर लगाना, केवल भौतिक साधनो की अपेक्षा साहस आदि नैतिक गुणों पर अधिक आधार रखना, आक्रमण और संरक्षण का उचित अनुपात रखना और विजय की इच्छा रखना।"

दूसरे विशेषज्ञों ने दूसरे रूप में इनका वर्णन किया है। उदाहरणतः फॉक ने आक्रमण करने पर अधिक बल दिया है।

हम देख चुके है कि अहिंसक प्रतिरोधी के व्यवहार का प्रारंभ बिलकुल नये प्रकार से होता है और वह कार्यारम्भशक्ति निरंतर अपने ही हाथ में रखता है। वह सफलतापूर्वक आश्चर्य के सिद्धांत का प्रयोग करता है। वॉन क्लाजविट्ज का कथन है कि 'युद्ध की विजय में आशा सब से बड़ा अंग है।' यही मत अनेक युद्ध-विशारदों का भी है।

अहिंसक प्रतिरोधी द्वारा प्रयुक्त किया हुआ आश्चर्य इसलिए कारगर होता है कि एक तो वह चकित करनेवाला होता है, और दूसरे विरोधी व्यक्ति अपने हिंसात्मक अभ्यास के कारण उसका उपयोग नही कर सकता। उसका आश्चर्य युद्ध की भांति किसी धोखे या चाल के आधार पर नही होता, किन्तु केवल उसकी नवीनता और धैर्य के कारण होता है।

नेपोलियन ने कहा है कि "युद्ध का यह एक माना हुआ सिद्धान्त है कि वह कार्य कभी नही करना चाहिए जिसे कि शत्रु तुमसे करवाना चाहता हो, इसी कारण से कि शत्रु तो वही चाहता है। जिस मैदान को उसने पहले देखा और जाच लिया है, उससे बचना चाहिए, और जिस जगह उसे अपनी मोर्चेबन्दी या किलेबन्दी करने का समय मिल गया है उससे बचने की तो दुगनी चिन्ता रखनी चाहिये। उसके उसूल से एक यह भी नतीजा निकलता है कि जिस स्थिति को तुम पीछे घूमकर जीत सकते हो उस पर सामने से हमला न करो।"

अहिसक प्रतिरोधी पूर्ण रूप से नेपोलियन के सिद्धांतके अनुसार अमल करता है। तुम्हारा हिंसक विरोधी चाहता है कि तुम उसके अभ्यस्त मार्ग के अनुसार उससे लड़ो। यदि तुम बिलकुल इनकार कर देते हो, और उसके लिए बिलकुल अपरिचित मार्ग ग्रहण करते हो, तो तुमने उसको एक मात तो दे दी।

अहिंसात्मक प्रतिरोधी आक्रमण न करके शत्रु को आक्रमण करने देता है और अपने संरक्षणात्मक कार्य से ही उसे हराने का यत्न करता है। इस कार्य में वह वॉन क्लाजविट्ज के सिद्धान्तानुसार चलता है। किन्तु अपनी मानसिक शक्तियों के प्रयोग के विषय में वह फॉक के सिद्धांन्त पर अमल करता है। वह निरंतर 'आक्रमण' करता रहता है, अर्थात झगड़े का सच्चा सन्तोषजनक हल करने के लिए मनोवैज्ञानिक मार्ग खोजने का जोरदार प्रयत्न करता रहता है।

किन्तु अहिंसात्मक लड़ाई कोई मनोरंजक वाद-विवाद-सभा नहीं है। यद्यपि कभी-कभी झगड़ा अधिक नही बढ़ता और सरलता से हल

निकल आता है, किन्तु अहिंसक प्रतिरोधी को तो हर तरह की कठोरता जेल, चोट, और मृत्यु तक सहने के लिए तैयार रहना पड़ता है। और जहां किसी सख्त कम्पनी समूह या सरकार का मुकाबला होता है वहां तो उसे भयंकर यातनाए और पशुतापूर्ण व्यवहार सहन करना ही पडता है । इसलिए अहिसात्मक प्रतिरोध कोई खिलवाड नही है, सच्चे साहस का कार्य है।

क्या अहिसात्मक प्रतिरोधी इस बात का पता लगाता है कि किस विशेष बात से विजय होगी ? क्या वह उस निर्णयात्मक बात पर मुख्य जोर लगाता है ? सचमुच, लगाता है। मार्शल डिसेक्से का कथन है कि "विजय का रहस्य मनुष्यो के हृदयो मे छिपा है।" अर्थात् विजय मनोवैज्ञानिक कारणो से होती है। अहिसक प्रतिरोधी भी इससे सहमत रहता है। इसलिए वह इस लडाई मे मानसिक शक्तियो पर मुख्य जोर लगाता है, और अपनी शक्तियो का बलपूर्वक और कुशलतापूर्वक प्रयोग करता है युद्ध मे शत्रु के कमजोर स्थानो पर अपना ज्यादा जोर लगाया जाता है, इस लडाई मे भी ऐसा ही कार्य होता है, क्योकि अहिसक प्रतिरोधी जानता है कि इस नैतिक और मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में तो वह अपने विरोधी से बहुत अधिक बलवान और तैयार है।

लड़ाई मे केवल भौतिक साधनो की अपेक्षा नैतिक गुणो पर अधिक आधार रखना चाहिए, इस सिद्धान पर अधिक कहने की जरूरत ही नही है; क्योकि इस सिद्धांत पर तो अहिसक प्रतिरोधी इतनी अधिक श्रद्धा से अमल करता है जितना कि ससार मे कभी किसी सैनिक ने नही किया।

आक्रमण और सरक्षण का उचित अनुपात भी अहिसक प्रतिरोधी ने खूब खोज करके ढूढ निकाला है। वह जानता है कि दोनों शक्तियो का सर्वोत्तम सम्बन्ध विरोध का नही किन्तु सम्मिलन, सामजस्य और उदात्तीकरण का होना चाहिए। इस प्रकार वह दोनो पक्षो की उच्च भावनाओ की विजय और दोनो पक्षों की गलतियो के पराजय कराने में कार्यशील रहता है। इससे दोनों पक्ष सतुष्ट होते हैं।

फॉक का कथन है कि विजय की पहली शर्त है विजय की इच्छा

होना। क्या अहिंसक प्रतिरोधी मे विजय की इच्छा होती है? निस्संदेह बड़ी प्रबल इच्छा होती है, तभी तो वह भारी-भारी कष्टो को सहन कर सकता है।

शत्रु के रहस्यों का ज्ञान प्राप्त करना भी कई आधुनिक युद्ध-विशारदों के मत मे महत्वपूर्ण बात है। अहिंसक प्रतिरोधी को तो इस विषय मे सबसे महत्वपूर्ण रहस्य ज्ञात है—अर्थात् मानवीय हृदय का रहस्य ज्ञात है। इस जानकारी के प्राप्त कर लेने के पश्चात् अधिक जानकारी की आवश्यकता कम रहती है।

युद्ध के और भी कई सिद्धांत है—शक्ति की मितव्ययिता, सुरक्षितता, शीघ्र-सचालकता, कष्टसहिष्णुता आदि। इन पर विस्तार मे लिखना अनावश्यक है, क्योंकि अहिसात्मक प्रतिरोध मे भी ये सब गुण होते हैं।

ये समानताएं दो शंकाओं को दूर करने की दृष्टी से बताई गई है। क्या लडाई का यह तरीका केवल उन्हीं लोगों के लिए उपयुक्त है जिन्हे परम्परागत अपने धर्म या संस्कृति द्वारा अहिसा का उपदेश मिला है? और क्या इस तरीके को पाश्चात्य देशवासी या पाश्चात्य मनोवृत्ति वाले लोग भी ग्रहण कर सकते है। चूकि इस नए ढग की लडाई मे भी युद्ध के समान ही गुणो की आवश्यकता रहती है, और युद्ध-कला के सिद्धात इसमे भी लागू होते है इसलिए प्रकट होता है कि यदि युद्धाभ्यासी जातिया भी झगड़े निपटाने के इस नवीन मार्ग को ग्रहण करेगी तो उन्हें अपने पिछले अनुभव और अभ्यास को पूरी तरह बदल देना न पड़ेगा, और युगयुगान्तर से युद्ध-कला के अनुभव द्वारा जिन सच्चे सिद्धांतों और धारणाओं को मनुष्य जाति ने संग्रहीत किया है उन्हें त्यागना न पड़ेगा। यह संभव है कि अहिंसात्मक प्रतिरोध की सामूहिक और बड़ी सफलता के लिए पहले-पहल उसका प्रयोग उस जाति में करना पड़ा हो, जिसमें कि अहिंसा की परम्परागत शिक्षा थी, उदाहरणतः बौद्ध, जैन और हिंदुओं में। किन्तु उसकी प्रथम सफलता के बाद तो दूसरी जातियों और राष्ट्रों में भी उसके प्रयोग की इच्छा उत्पन्न हो जायगी, और उन्हें भी उसके मूल तत्व समझ में आजायंगे। यदि अहिंसात्मक प्रतिरोध की

इच्छा और जानकारी प्राप्त हो जाय, तो फिर पाश्चात् देशवासियों में भी साहस, संगठन-शक्ति और अनुशासन-क्षमता भारतीयों से कम नही है। इसलिए आशा की जाती है कि इस नये मार्ग का प्रसार अवश्य होगा। यह मार्ग सार्वजनिक झगडे निपटाने की कला का एक विकसित अगला कदम है, किंतु इतना अनोखा नही कि पाश्चात्य लोग इस पर अमल ही न कर सके। जब युद्ध और अहिंसात्मक प्रतिरोध के बीच ये सम्बन्ध पूरी तरह समझ में आजायंगे, तो पाश्चात्य मनोवृत्ति वालों में भी इस नये मार्ग की तरफ बढने की क्षमता हो जायगी।

यदि भविष्य मे कभी ऐसा हो कि दोनो ही पक्ष अहिंसात्मक प्रतिरोध का प्रयोग करे, तो दोनो में से उस पक्ष की जीत होगी, जो इस मार्ग को सब से अधिक समझता होगा, जिसमे सब से अधिक अनुशासन और तैयारी होगी। उस पक्ष मे अधिक आत्मशुद्धि होनी चाहिए, अधिक सामाजिक सत्य और प्रेम होना चाहिए। तभी उसमे आन्तरिक एकता और शक्ति अधिक होगी और उसे विरोधियों और जनता का सम्मान अधिक प्राप्त होगा।

संक्षेपत:, अहिंसात्मक प्रतिरोध और युद्ध मे निम्नलिखित समानताएं है:

(१) दोनो का लक्ष्य और परिणाम मानसिक ह।
(२) दोनो का उद्देश्य एक ही है—लोकमत का समर्थन प्राप्त करना।
(३) दोनो मे ही समानता रखने वाले भावादेशों और स्वाभाविक वृत्तियो का सयमन करना होता है।
(४) दोनो का ही प्रभाव विरोधियो के साहस और अनुशासन पर पडता है।
(५) दोनो मे लड़ाई के सिद्धांत एक से है।
(६) दोनों ही बड़े-बड़े झगडे और विवाद निपटाने के मार्ग है।
(७) दोनो मे ही साहस, कार्यशीलता, कष्ट सहिष्णुता, आत्मत्याग, वीरता, कर्मण्यता आदि गुण आवश्यक है।
(८) दोनों ही प्रभावशाली और शक्तिशाली है।

(९) दोनों में ही एक महान तत्व की सेवा के लिए या गौरव के लिए अवसर रहता है।

अहिंसात्मक प्रतिरोध मे भी कष्ट सहन, यातना, चोट या मृत्यु से बचना नही होता। इसके प्रयोग मे भी पुरुषो और स्त्रियों को अपने प्राण, सम्पत्ति और सब कुछ बलिदान करने पड़ सकते है। इसके प्रयोग मे जन धन की हानि कम होती है, तथा अपेक्षाकृत कष्ट भी कम सहने की संभावना रहती है। इससे जनता के उद्योगधधो तथा कृषिकार्य मे बाधा नही पहुंचती। इसका परिणाम युद्ध से अधिक पूर्ण होता है, क्योंकि इससे अधिक पूर्ण शान्ति प्राप्त की जा सकती है। इसके परिणाम की पूर्णता और स्थायित्व को देखकर कहा जा सकता है कि इस मार्ग में सफलता युद्ध के समान ही या उससे भी अधिक शीघ्रता से मिलती है। यह एक ऐसा साधन है जिसका प्रयोग बडे और छोटे राष्ट्र, बड़े या छोटे समूह, आर्थिक दृष्टि से बलवान और कमजोर लोग पृथक्-पृथक् व्यक्ति भी कर सकते है। इसके द्वारा दोनो पक्षो और तटस्थों को सत्य की खोज करनी पडती है, जब कि युद्ध दोनो पक्षो और तटस्थों को सत्य के प्रति अधा बना देता है।

अहिंसात्मक प्रतिरोध से सबको हानिया, यदि होती ही हों तो, कम होती है। तो, क्या यह ईमानदारी से नही कहा जा सकता कि अहिंसात्मक प्रतिरोध युद्ध का सफल पर्याय है।

अहिंसात्मक प्रतिरोध वास्तविकतापूर्ण भी है, क्योकि इसमे मतभेदो और स्वार्थ-संघर्षों की सम्भावनाओ को अमान्य नही किया है, और इस मे अन्य सब प्रकार की बातों का ध्यान रखा गया है।

इस मार्ग मे किसी राष्ट्र को अपने प्रभुत्व या अपने निर्णयाधिकार को किसी अंश में भी त्यागना नही पडता, जैसा कि संभवतः सच्चे राष्ट्र-संघ के बनने पर करना पड़ेगा। इसमें किसी भी राष्ट्र को अपने आत्म-रक्षण का अधिकार छोड़ना न पड़ेगा, यद्यपि इससे आत्मरक्षण का स्वरूप ही बिलकुल बदल जायगा। इसमें खर्चीले अस्त्र-शस्त्रों, सेनाओं, कवायद के मैदानों या गुप्तता की आवश्यकता न होगी। इसके द्वारा मनुष्यों

का पतन नही होगा, किन्तु इसमें भाग ले चुकने से पुरुष और स्त्रियां नैतिक दृष्टि से अधिक उन्नत बन जायगे।

इस मार्ग के लिए किसी सरकार या बड़े सम्पत्तिशाली संगठन की आवश्यकता नही है। जीवन की प्रत्येक परिस्थिति मे, घर में और बाहर, स्त्रिया और पुरुष, सब प्रकार के राष्ट्र, समूह, वर्ग या जातियां, बालक और वृद्ध, धनिक और निर्धन, सभी इसका प्रयोग कर सकते है और इसकी कुशलता प्राप्त कर सकते है। यह महत्वकी बात है कि इसमें स्त्रिया भी भाग ले सकती है, बल्कि वे तो पुरुषों से भी अधिक सफल होती है।

विलियम जेम्स ने 'युद्ध का नैतिक पर्याय' नामक लेख में जो सूचनाये प्रस्तुत की है, उनमे यह मार्ग कही श्रेष्ठ है। मार्शल फॉक ने एक दूसरे प्रसग के लिए कहा है— "अब तो एक नये ही प्रकार का युद्धप्रारम्भ हुआ है, सैनिको के हृदय ही नये शस्त्र है।" यही शब्द हम अहिंसात्मक प्रतिरोध या सत्याग्रह के विषय मे भी क्यो न कहे?

: ८ :

वर्गसंघर्ष और अहिंसात्मक प्रतिरोध

हिंसा के समर्थकों मे अजीब भानमती का पिटारा इकट्ठा हो गया है। एक ओर तो कट्टर विधानवादी, जैसे पक्के अनुदारपक्षीय, सौ-प्रतिशत राष्ट्रीयतावादी फासिस्ट आदि है, और दूसरी ओर पक्के क्रान्तिवादी, जैसे कम्यूनिस्ट, बोल्शेविस्ट, सिन्डीकेलिस्ट और कुछ अराजकतावादी भी है। शान्तिवाद के विरुद्ध क्रान्तिवादियो की समालोचना सर्वोत्तम प्रकार से लेनिन और ट्राट्स्की ने लिखी है। इन दोनो में से भी ट्राट्स्की ने अधिक विस्तार मे लिखा है। किन्तु दोनो ने ही सब शांतिवादियो के विरुद्ध अत्यन्त घृणा प्रकट की है।

बर्नहार्डी आदि कुछ व्यक्तियो की तरह कम्युनिस्ट लोग युद्ध की पूजा नही करते। वे तो उसे केवल एक भयकर अनिवार्य ऐतिहासिक

आवश्यकता समझते हैं, किन्तु उनके दिल में मजदूरों का आधिपत्य स्थापित करने का इतना दृढ़ निश्चय है कि वे हिंसा का ही शस्त्र ग्रहण करके शंकाहीन होकर उसका अधिक से अधिक प्रयोग करते हैं। फिर भी वे आशा करते हैं कि अन्ततः शान्ति स्थापित हो जायगी।

लेनिन ने लिखा है कि 'लोगों को प्राणदण्ड देना, हृदयहीन होकर उनकी खोपडियां फोडना एक अत्यन्त निर्दयतापूर्ण और कठिन कार्य है, जब कि हिंसा को निर्मूल करना ही अन्तिम राजनैतिक आदर्श है।' 'शस्त्रास्त्र और युद्ध' पर एक लेख लिखते हुए उसने लिखा है कि "जब हम एक देश के ही नही, किंतु सारे ससार के पूंजीपतियों को दबा लेंगे और उनका निःसम्पत्तिकरण कर देंगे, उसी स्थिति में युद्ध असम्भव होंगे।" उसने आगे लिखा है कि "संसार में अपना ऐतिहासिक कार्य पूरा करने की दृष्टि से मजदूर लोग पूंजीपतियों का निःशस्त्रीकरण करने के बाद ही, अपने शस्त्रास्त्रो को कचरे के ढेर पर फेकेंगे, उसके पहले नही।" उसी लेख मे वह लिखता है कि "पूंजीवादी सेनावाद के विकास के कारण ही यह अनिवार्य हो गया है कि मजदूर अपना शस्त्रीकरण करे।" प्रतीत होता है उसका मत यह था कि अनुशासन-विहीन आकस्मिक हिंसा एक मूर्खतापूर्ण कार्य है, क्योंकि अपने भाई के प्राणदण्ड के बाद उसका निर्णय यह था कि "हम उस मार्ग से नही चलेंगे, हमें उस मार्ग की आवश्यकता नही है।"

'राज्य सस्था और क्रांति' नामक पुस्तक मे लेनिन लिखता है :— केवल कम्यूनिस्ट समाज मे ही जिसमें कि पूंजीपतियो का विरोध नष्ट कर दिया गया हो, जिसमे वर्गों का अस्तित्व मिट गया हो (अर्थात् जब कि समाज मे उत्पत्ति-साधनोंकी दृष्टि से व्यक्ति-व्यक्ति में भेदभाव न रहेगा), उस अवस्था में ही 'राज्यसस्था मिट जायगी, और स्वतन्त्रता कही जा सकेगी।'... और उसी अवस्था में स्वयं प्रजातन्त्रवाद भी अपने आप मिटने लगेगा, क्योंकि पूंजीवादी गुलामी से और पूंजीवादी शोषण की असख्य यातनाओं बर्बरताओं, मूर्खताओं और धोखेबाजियों से मुक्त हो जाने पर लोग धीरे-धीरे सामाजिक जीवन के उन प्रारंभिक

नियमों का पालन करने के स्वभावतः अभ्यासी बन जायगे, जिन्हें हम शताब्दियों से जानते आये है और हजारो वर्षों से धार्मिक उपदेशों में जिनका जिक्र होता आया है। लोग उनका पालन अपने आप करेंगे, उसके लिए बल-प्रयोग, जबरदस्ती, पराधीनता और बल-प्रयोग के विशेष-यन्त्र राज्यसंस्थापन की भी आवश्यकता न होगी।"

इससे प्रकट होता है कि लेनिन के मतानुसार मजदूर-वर्ग की क्रान्ति युद्ध-मात्र का अन्त करने वाला एक युद्ध है।

युद्ध तो जीवन की अनेक भिन्न-भिन्न क्रियाओ का अंतिम परिणाम है। हमारी वर्तमान "शांति" की अपेक्षा, जो कि वास्तव मे पूंजीवाद को कायम करने और बढानेवाली शांति है, युद्ध अधिक तीव्र, स्पष्ट, अभिनयपूर्ण और प्रकट-हिंसापूर्ण वस्तु है, और इसलिए वह इस तथा-कथित "शांति" से अधिक भयंकर है। किंतु वास्तव मे मनुष्यो के प्रति आधारभूत धारणाओ, मान्यताओ और मनोवृत्तियों की दृष्टि से वर्तमान शांति और युद्ध दोनो एक से है। सच पूछा जाय, तो वर्तमान शांति मे भी समाज मे निरंतर संघर्ष या युद्ध चल रहा है। पूंजीवाद और युद्ध के तरीको और मनोवृत्तियो मे बडा संबंध और समानता प्रतीत होती है।

लेनिन का भी यही कथन है—"युद्ध कोई आकस्मिक घटना नही है। वह कोई पाप नही जैसा कि ईसाई धर्म के मंत्रियो का विचार है। वह पूंजीवाद के विकास का ही एक अंग है, वह शांति की भांति ही स्वाभाविक पूंजीवादी जीवन का एक स्वरूप है।" ट्राट्स्की और मार्क्स के लेखो में भी ऐसे ही विचार प्रकट किये गये है।

युद्ध और पूंजीवाद दोनो के मनोवैज्ञानिक कारण और स्वरूप एक से है। जे. एम. केनीज का कथन है कि पूंजीवाद का मूल है लोभ। लोभ एक प्रकार का भय है जिसमे भविष्य मे संभवनीय असुरक्षितता या अशक्तता के लिए व्यवस्था करने का प्रयत्न होता है। क्रोध और लोभ ही युद्ध का मूल है, और पूंजीवाद का भी मूल है। जैसा कि पिछले एक अध्याय मे बताया गया है क्रोध और लोभ विभेदकारी (पार्थक्यकारी) भावोद्वेग है।

आधुनिक पूंजीवाद में पूजी के मालिक या उसके एजेण्ट मनुष्यों को, मजदूरो के रूप मे, अपने व्यक्तिगत आर्थिक लाभ के उद्देश्य के लिए प्रयुक्त करते है। युद्ध में भी अधिक शक्तिशाली लोग अपने अंतिम उद्देश्यो के लिए, जो सामान्यत. स्वार्थपूर्ण होते है, मनुष्यो का साधनरूप में उपयोग करते है।

पूजीवाद से आधुनिक युद्ध के लिए सामग्री और धन मिलता है, और आधुनिक युद्ध के लिए बडे कारखानो और कम्पनियों की आवश्यकता होती है। दोनों एक दूसरे के सहायक है। यद्यपि प्राय युद्ध आर्थिक उद्देश्यों के लिए होते हैं किन्तु केवल पूजीवाद ही युद्ध का कारण नहीं है, क्योंकि पूजीवाद के पहले भी युद्ध हुआ करते थे। युद्ध बडा भाई और पूजीवाद छोटा भाई है और दोनो वास्तव में एक ही परिवार के है। दोनो का जन्म एक ही आधारभूत मनोवृत्तियो और मान्यताओ से हुआ है। दोनो में बल-प्रयोग और हृदयहीनता है, दोनो में ही विभेद-भावना है, दोनों के प्रतीकों में समान दोष है।

यदि यह विवेचन सत्य है, तो प्रतीत होगा कि न केवल युद्ध पूजीवाद का अनिवार्य परिणाम और साथी है, किंतु अब दोनो की काफी बढती और वयस्कता हो जाने के बाद तो, संभवतः पूजीवाद स्वयं युद्ध का अनिवार्य परिणाम और साथी हो गया है। तात्पर्य यह है कि मजदूर-वर्ग अपना उद्देश्य प्राप्त करने के लिए यदि युद्ध का प्रयोग करेंगे तो सभवत. वे फिर पूजीवाद की भंवर में फस जायगे। क्या सोवियट विचारधारा का यह निष्कर्ष नहीं निकलता ? क्या वे लोग राजकीय पूजीवाद की दिशा मे न बह जायंगे ?

युद्ध का आधार मनुष्य-मनुष्य का विरोध है, और कम्यूनिस्ट तो मानवीय एकता मे विश्वास करते है। किन्तु विभेदकारी साधन द्वारा एकता का साध्य सिद्ध होना असम्भव है। मानवीय व्यवहार में साध्य एक सजीव पदार्थ की भांति उस कार्य-शृखला द्वारा बढ़ता हुआ प्राप्त होता है, जिन्हे साधन कहा जाता है। इस प्रकार जब साध्य वास्तव में प्राप्त होता है, तब उसमे साधनों के गुणों का अंश भी समाविष्ट हो

जाता है। जब पिछला महायुद्ध हुआ था तो कई लोग सोचते थे कि उसका परिणाम न्याय और स्वतन्त्रता होगा, किन्तु साधनो के कारण सब कुछ उलट गया, और अन्त मे वर्साई की सन्धि हुई, और अनेक दोष उत्पन्न हुए। इसलिए साध्य कितना भी उच्च और महान् क्यो न हो, हमें अनुचित साधन प्रयुक्त करने से बहुत बचना चाहिए।

साध्य-साधन-संबंधी मिथ्यातर्क के विषय मे ई. बी. होल्ट ने भी इसी प्रकार के विचार प्रकट किये है। एम्मा गोल्डमैन ने, जिसके विचार बडे ही क्रान्तिकारी कहे जाते हे, हाल मे लन्दन के एक भाषण मे कहा था कि, "सब से हानिकारक विचार यह है कि यदि साध्य ठीक है तो उसके लिए हर तरह के साधन ठीक समझे जायगे। अन्त में साधन ही साध्य बन जाते है, और असली साध्य पर दृष्टि ही नहीं जाती।" स्वय ट्राट्स्की ने लिखा है कि "जिसका लक्ष्य साध्य पर रहता है, वह साधनो की उपेक्षा नही कर सकता।" किन्तु शायद वह यह नही समझ सका कि साधन का कितना बडा प्रभाव साध्य पर पड़ता है। बुरे साधनो मे तो बुरा साध्य ही प्राप्त होगा। इसलिए चाहे जैसे साधन प्रयुक्त करने का सिद्धान्त कभी उचित नही हो सकता।

आन्तरिक अत्याचार को मिटाने के लिए प्रतिहिंसा करने वालों को उस प्रतिहिंसा से उतनी ही बाधा पहुंचती है जितनी कि उन पर की जाने वाली राज्य की हिंसा से। स्वयं हिंसामार्ग ग्रहण करके वे शासक वर्ग के इस विचार के साथ अनजान रूप से सहमत होते है कि झगडे निपटाने का सबसे निश्चत उपाय हिंसा ही है। वे हिंसा-प्रणाली की धारणाओ और कला को स्वीकार करते है, और उसमे बंध जाते है। इसलिए उन्हे विवश होकर उन लोगों की इच्छा का पालन करना पडता है, जो कि हिंसा के शस्त्रो में सबसे अधिक कुशल हैं। इसके अतिरिक्त यदि कोई व्यक्ति हिंसा के शस्त्रो को स्वीकार करता है, और उसका शिक्षण और अनुशासन प्राप्त करता है, तो वह उसी पद्धति में ढल जाता है, और उसकी आन्तरिक मनोवृत्ति, अभ्यास और उद्देश्य भी हिंसात्मक हो जाते है। यदि अनेक व्यक्ति इस प्रकार परिवर्तित हो

जाते हैं, तो हिंसा-काल में उनका एक स्थापितहित बन जाता है, और यह मजदूरों के लिए एक खतरनाक बात होगी।

हम यह देख चुके हैं कि क्रोध और भय समान भावावेश हैं। दुर्बलता देखकर क्रोध ही भय में परिणत हो जाता है। यदि किसी सुव्यवस्थित देशमें मजदूर अपने आपको प्रबल समझकर हिंसा से विजय प्राप्त करने का यत्न करेंगे, तो शासक-वर्ग भी प्रतिहिंसा करेगे, और भय के कारण मध्यमवर्ग भी अपनी रक्षा के लिए पूजीपतियो का साथ देंगे। पाश्चात्य औद्योगिक देशो में निश्चित तनख्वाह पानेवाले कारीगरों की भी काफी संख्या है, जिनका हित वर्तमान व्यवस्था कायम रखने मे है। ये लोग सेनाओं में अधिक संख्या में जाने लगेंगे। जैसे-जैसे सेनाओं का अधिक यान्त्रिक रूप होता जायगा, सैनिक अधिक पेशेवर बनते जायंगे, जिसका परिणाम यह होगा कि सेनाओ मे गुप्त रूप से क्रान्ति के सिद्धान्त फैलने की सम्भावना कम होती जायगी। पुलिस, फौज, नौसेना, वायुसेना, यातायता साधनों और प्रेस पर पूजीपतियों का आधिपत्य होने के कारण तत्काल सिद्ध हो जायगा कि हिसा के क्षेत्र में तो मजदूरवर्ग से शासकवर्ग ही अत्यधिक बलवान है। इस अनुभव के आते ही मजदूरों का क्रोध भय में परिणत हो जायगा, और वे हार जायंगे। यह सत्य है कि रूस में ऐसा नही हुआ था, किन्तु जिस परिस्थिति मे रूस मे उथल-पुथल हो सकी थी, वैसी परिस्थित अकेले मजदूरो के प्रयत्न से पैदा नही हो सकती। इसलिए मजदूर तब तक प्रतीक्षा न करके जब तक कि दूसरा महायुद्ध शुरू होकर शासकवर्ग में पूर्ण अस्त-व्यस्तता उत्पन्न न हो जाय, यदि नई और अच्छी समाज-व्यवस्था बनाना चाहते हैं तो उन्हें हिंसा के अलावा दूसरा कोई तरीका पसन्द करना चाहिए। यदि वह ऐसा मार्ग ग्रहण करेंगे जिसमें क्रोध का उपयोग नही किया जाता, तो अनिवार्य मनोवैज्ञानिक क्रिया द्वारा क्रोध अकस्मात् भय में परिणत न होगा, और उनकी हार न होगी। गरीबों के लिए तो एकमात्र साधन अहिंसात्मक प्रतिरोध ही है। अहिंसात्मक प्रतिरोध से वे मध्यमवर्ग को अपने पक्ष में कर लेंगे। इस मार्ग

में तो विरोधियों को कमजोर करने, शक्ति संगठित करने और विजय प्राप्त करनेका बल सर्वथा मजदूरों के अन्दर ही विद्यमान है। यदि वे हिंसामार्ग ग्रहण करेंगे तो वे पूंजीवाद को ही मजबूत करेंगे। हिंसा के कारण मजदूरों के संगठन पराधीन हो जायगे, और विनष्ट हो जायंगे। यदि एक महायुद्ध और हुआ और उससे सभ्यता के कई स्वरूप और संस्थाएं नष्ट भी हो गई, तो भी इससे यह सिद्ध नही होता कि फिर पूंजीवाद किसी नये रूप में खडा न हो जायगा।'

मजदूरो के सच्चे हितचिन्तक होते हुए भी, वे लोग जो आज उन्हें हिंसा का मार्ग बता रहे है, संभवतः अपनी समझ की गलती के कारण उनके ही पक्ष की हानि कर रहे है ; क्योंकि वे तो उसी आन्तरिक मनोवृत्ति का समर्थन कर रहे हैं, जिससे कि व्यक्त रूप में पूंजीवाद उत्पन्न होता है। क्रान्ति का मूल आधार भौतिक शक्ति नही है। आज-कल का शासन मन्त्रिमण्डलों, बंकों और उच्च वर्गो के बल से उतना नही चल रहा, जितना कि विशेष प्रकार के विचारों, भावनाओं, धारणाओं, और कार्यों से, जिन्हे लोग सत्य समझते है, चलता है। जहा शासन अशत फौज और पुलिस के भी बल से चलता है, वहा भी मुख्य नियत्रण मनोवैज्ञानिक, अर्थात् शस्त्रबल के भय-द्वारा होता है। जो लोग मर जाते है उन पर शासन नही चलता, किन्तु जो जीवित और भयभीत बचे हुए रहते हैं उन पर चलता है।

अहिसात्मक प्रतिरोध हिंसा की अपेक्षा उच्चतर धारणाओं को उत्पन्न करता है। वह अपने विरोधियो और दर्शको पर अपना जबर-दस्त असर डालकर पूंजीवाद की पुरानी धारणाओ को दूर करता है, और नई और उच्च धारणाओ और मनोवृत्ति को पुनर्जीवित करता है। उससे रुपया या मुद्रा सम्बन्धी धारणाए भी सुधरने लगेंगी, और भी अनेक बुरी धारणाओ का, जिन पर आधुनिक शासनों और बुराइयों

---

१ लेखक के इस लेख के बाद नया महायुद्ध प्रारंभ और समाप्त भी हो चुका है। —अनु०

का आधार है, बल कम होगा। इस प्रकार के परिवर्तन को ही गाधीजी हृदय-परिवर्तन कहते हैं। जब वे पुरानी धारणाएं और प्रतीक परिवर्तित या नष्ट हो जायगे, जिनसे कि शासकवर्ग को अन्तरिक बल मिलता है, तो शासकवर्ग की शक्ति भी मिट जायगी।

वर्गभेद हिसात्मक संघर्ष द्वारा नष्ट नहीं किये जा सकते, और उनकी भौतिक सत्ता छीन लेने से भी नष्ट नही हो सकते। किन्तु इसके लिए तो उनके विचारादर्श, उनकी धारणाएं उनकी मान्यताएं ही बदलनी पड़ेगी, जिन पर कि उनके वर्ग का लोभ और अभिमान आधारित हैं।

कम्युनिस्टों का कहना है कि बल-प्रयोग के बिना पूजीपतियों का सुधार नही हो सकता, वे अपनी सत्ता बिना भय और हिंसा के कभी न छोड़गे। यह सम्भव है कि पूजीवादी प्रणाली के विचार और उद्देश्य अत्यन्त लोभी और विनाशकारी हैं। किन्तु चूकि पूजीपति भी जीवित प्राणी हैं, और उन पर भी प्रेरक-कारणों और परिवर्तनो के नियम लागू होते है, इसलिए उनमे भी परिवर्तन अवश्य हो सकता है। और चूकि वे भी मनुष्य हैं, इसलिए उन पर भी शिक्षण और हृदय-परिवर्तन का प्रभाव पड़ सकता है। मार्क्स, एन्जेल्स, लेनिन, शिशेरिन आदि बड़े-बड़े कम्यूनिस्ट भी तो पहले पूजीपति वर्ग मे ही थे। इतिहास शासक वर्ग के ऐसे धनिक लोगो के उदाहणो से भरा पड़ा है, जिन्होने अपने जीवन और विचारो की सारी धारा बदल दी और जो जनता कि निस्वार्थ सेवा करने मे लग गए। अहिसक प्रतिरोधी का विश्वास है कि उन्ही प्रभावो को यदि बुद्धिमत्ता और अनुशासन के साथ प्रयुक्त किया जाय जिनसे कि उपर्युक्त व्यक्तियो मे परिवर्तन हुआ तो सारे वर्ग की विश्वास और व्यवहार भी बदल सकता है। पूजीपति, व्यक्तिगत रूप से और वर्गरूप से, परिवर्तित किए जा सकते हैं, यदि उनकी भावनाओं को जाग्रत करने के साथ-साथ आप दृढ़तापूर्वक उनकी हानिकारक धारणाओ, हानिकारक नीतियो और हानिकारक व्यवहारो को मानने से इनकार करदें, और उनका लाभ उठाने से भी इनकार कर दें।

अपना उद्देश्य प्राप्त करने मे भय और आतंक श्रमजीवियों को लाभदायक हो सकता है, यह बात वैसी ही है जैसी कि यह बात कि अपराधियो का सुधार दण्ड देने से हो सकता है। ट्राट्स्की ने भी लिखा है कि 'आतक एक अच्छी नीति है' आन्तरिक प्रयोग और बाह्य प्रयोग दोनों के लिए। क्रान्ति की भाति युद्ध का भी आधार आतक पर है।" यह केवल एक अर्धसत्य है। अर्धसत्य सदा आधी दूर तक सफलता देता है, और आगे असफल हो जाता है। अपराधियो को तीव्र दण्ड देने से अपराध कम नही होते, यह प्रमाणित हो चुका है। इसी प्रकार हिंसा भी ससार की स्वाधीनता और उन्नत जीवन का साधन नही हो सकती। हिंसा थोडा सा उपयोग दे सकती है जैसे कि वाट के बनाये हुए सर्व प्रथम स्टीम एंजिन ने दिया था। किन्तु अहिंसात्मक प्रतिरोध उससे भी अधिक उपयोगी है, जैसे कि आजकल के आधुनिक स्टीम-टरबाइन अधिक उपयोगी हैं।

हजारो वर्षों से हिंसा का प्रयोग किया जा रहा है। अब हमें किसी नए वैज्ञानिक साधन का प्रयोग क्यो न करना चाहिए? स्वय लेनिन ने लिखा है, " जो लोग पूजीवाद को हटाने के जबरदस्त काम मे सलग्न है, उन्हे एक के बाद एक नये-नये उपायो का प्रयोग करने के लिए तब तक उद्यत रहना चाहिए, जब तक कि उन्हे कोई सर्वोत्तम मार्ग न मिल जाय।" इसलिए सामाजिक सत्य की खोज के लिए अहिंसा का प्रयोग क्यो न करना चाहिए?

आप पूजीपति के लक्ष्य और उद्देश्य को बलप्रयोग के बिना बदल नही सकते, इस कथन का तात्पर्य यह है कि आप लोभ या भय को दबा या हटा नही सकते। लोभ या भय प्रत्यक्ष रूप से किसी उपाय से शायद सफलतापूर्वक न हटाया जासके, किंतु मन मे मनुष्यमात्र की एकता और सुरक्षितता सम्बन्धी, जाग्रत और अजाग्रत, दोनों प्रकार की चेतना और भावना उत्पन्न कर देने से लोभ या भय पर अप्रत्यक्ष रूप से नियन्त्रण किया जा सकता है। अहिंसात्मक प्रतिरोध से इसी-प्रकार की मानवीय एकता और सुरक्षितता की भावना उत्पन्न होती

है। पूजीवादी का मनुष्य जाति के विभेद और पार्थक्य का विश्वास मनुष्यो और घटनाओ के निरीक्षण और अनुभव से बना है। यदि श्रमजीवियो के अहिसात्मक प्रतिरोध का कोई जोरदार प्रदर्शन होगा, जिसमें कि पहले से कही अधिक अनुशासन और असर होगा, तो यह भी उसके लिए एक नवीन और प्रभावशाली अनुभव होगा। और यदि इसकी पुनरावृत्ति कुछ बार होगी, तो पूजीवादी के लक्ष्यो, मान्यताओ विचारादर्श और विचार धारा मे मौलिक सुधार हो जायगा। नाटक की भाति, अहिसात्मक प्रतिरोध भी एक अत्यन्त प्रभावशाली अभिनय है जिससे कि पूजीपति पर मानवीय एकता का प्रभाव पडेगा, और उसे यह भी मालूम होगा कि पूजीवाद के तरीको से मनुष्य जाति को कितनी हानि हो रही है।

यदि क्राति हिसा के बिना की जायगी तो पूजीपतियो की ओर से भी प्रतिहिसा न होगी। यह तो इतिहास की बात है कि इटली, हंगेरी, फ्रास और रूस की क्रातियो मे कब्जा प्राप्त करने के लिए श्रमजीवियो को कार्य रूप मे अपेक्षाकृत कुछ भी हिसा नही करनी पडी थी। किंतु बाद मे जो प्रतिक्रातिया हुई, और उनको रोकने के लिए जो यत्न हुए उनमे बड़ी हिसा हुई। किंतु यदि एक ओर सच्ची अहिसा रहेगी, तो उससे दूसरी ओर की हिसा भी कम हो जायगी और इस प्रकार बहुत कम आतक और हिसा से ही बडे-बडे परिवर्तन हो जायगे। शासक-वर्ग के हृदय अहिसात्मक प्रतिरोध से बदल जायगे।

कोई-कोई यह कहेगे कि वर्ग-सघर्ष का अधिकाश भाग बिना हिसा के शायद हो भी सके, किंतु मजदूरो को सफलता तो अंत में एक बार हिसा का कदम उठा करके ही प्राप्त होगी। यह भी एक भ्रम है। प्रथम तो इसका समझना ही कठिन है कि अन्तिम कदम आया या नही, और फिर यदि अन्त मे हिंसा ही करनी है तो पहले से उसकी तैयारी भी करनी पड़ेगी, और इस प्रकार मजदूर कभी भी पूरी तरह अहिंसक न हो सकेंगे।

कम्यूनिस्टों की एक दलील यह है कि चूंकि रूस में क्रांति हुई थी,

उसमें हिंसा का प्रयोग किया गया था, इसलिए प्रत्येक क्रांति में हिंसा का प्रयोग करना उचित है। यह एक भ्रमपूर्ण दलील है। वास्तव में रूसी क्रांति की सफलता बोल्शेविक लोगों की कार्यशक्ति, हिम्मत, आदर्शवाद, पिछला दीर्घकालीन प्रचार और शिक्षण, संगठन शक्ति, अनुशासन, बुद्धिमत्ता, लक्ष्य की स्पष्टता, और विश्वास की दृढ़ता आदि कारणों से अधिक हुई थी। इसके मुकाबले में पुराने शासन में बड़ी कमजोरी थी तथा मित्रराष्ट्रों में भी नैतिक कमजोरी थी। कहने का तात्पर्य यह है कि उस क्रांति में विजय नैतिक बल और अनुशासन के कारण हुई, जिसके लिए कई वर्षों से तैयारी की गई थी। हिंसा से भी अवश्य कुछ कार्य हुआ, और कई बातों का निर्णय हुआ, किंतु मेरा विश्वास है कि उसमें सहायता की अपेक्षा बाधा अधिक पहुची। ये तर्क इस समय के विद्यमान सभी राज्यों पर लागू होते हैं। बोल्शेविकों की हिंसा के कारण ही, यद्यपि आरंभ में उसकी मात्रा बहुत कम थी, मित्रराष्ट्रों को रूस पर प्रतिक्रांतिकारी धावे करने का नैतिक आधार मिल गया था।

किंतु मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि कम्यूनिस्ट हिंसा के प्रेमी है, या वे यह विश्वास नहीं करते कि हिंसा अन्त में हटाई जा सकती है। सोवियट यूनियन ने राष्ट्रसंघ द्वारा तथा अन्य प्रकार से विश्वशांति और निःशस्त्रीकरण के लिए काफी प्रयत्न किये है। इसके अतिरिक्त कायरतापूर्वक अत्याचार सहन करने की अपेक्षा तो मजदूर-वर्ग का अपने अधिकारों के लिए साहसपूर्ण हिंसा करना भी अच्छा ही है। रूसी क्रांति के कारण सारे संसार में आजादी की आशाएं और शक्तियां उत्पन्न हो गई है। किंतु उसके साथ ही इतना भय और इतनी घृणा भी उत्पन्न हो गई है कि सारे संसार में ही भयंकर दमन, प्रतिक्रिया और अत्याचार भी हुआ है। रूस के भीतर अब भी काफी बन्धन और कुछ हिंसा विद्यमान है। यदि यह भी मान लिया जाय कि सारे संसार की दृष्टि से दमन और अत्याचार की अपेक्षा नई आजादी और आशाओं का पलड़ा भारी है, तो भी प्रश्न होता है कि क्या इसकी कीमत आवश्य-

कता से अधिक तो नहीं चुकाई गई? मेरा विश्वास है कि यदि अहिं-सात्मक प्रतिरोध का प्रयोग बुद्धिमत्ता से किया जाता तो अपेक्षाकृत कम कष्टसहन और कम हानि से तथा कम समय में अधिक अच्छे परिणाम प्राप्त होते।

कम्यूनिज़्म एक महान और महत्वपूर्ण मत और आन्दोलन है। प्रत्येक बड़े मत में, चाहे वह राजनीतिक हो, धार्मिक हो, सामाजिक हो, आर्थिक हो या और किसी विषय का हो, सदा सत्य और असत्य (भ्रम) का सम्मिश्रण रहता है। कम्यूनिस्ट आन्दोलन में भी मेरे विचारानुसार कुछ सत्य है और कुछ भ्रम है। किन्तु चूंकि यह पुस्तक सामाजिक या राजनैतिक सिद्धातो पर नही है, इसलिए मैं हिसा के तत्व के अतिरिक्त कम्यनिजम की दूसरी बातो का विवेचन नही कर सकता। फिर भी मैं केवल विरोधी आलोचना ही नही करना चाहता। मैं यद्यपि हिसा और आतक को नापसंद करता हूँ, किन्तु, कम्यूनिज़्म के केनीज के कथनानुसार 'नैतिक मूल तत्व' को पसद करता हूं, जो यह है कि "इस प्रकार के समाज की रचना करना जिसमे कि धन की दृष्टि से कार्य करने को वृत्ति का आपेक्षिक महत्व बदल जाय, और जिसमें सामाजिक सम्मान दान का आधार भी बदल जाय।"

गाधीजी के भारतीय स्वराज्य संबंधी विचार भी इससे बहुत भिन्न नही है। उनके राजनैतिक स्वराज्य की कल्पना मे 'उच्च' कहे जाने वाले वर्ग शामिल हैं, किंतु उनका आन्दोलन मुख्यतः जन आन्दोलन है। उनका कथन है कि "असली स्वराज्य का अर्थ यह नही है कि केवल कुछ व्यक्ति या व्यक्तियो के हाथ में सत्ता आजाय, किंतु यह है कि सत्ता का दुरुपयोग होने पर उसका विरोध करने की शक्ति प्राप्त हो जाय। दूसरे शब्दों में, स्वराज्य जनता को इस प्रकार का शिक्षण देने से प्राप्त होगा कि वे सत्ता पर नियन्त्रण करने की योग्यता रखते हैं।" अन्यत्र वह कहते है कि "असहयोग जनता में अपने गौरव और अपनी शक्ति की भावना जाग्रत कर देने का ही प्रयत्न है।" एक स्थान पर वह कहते हैं कि " जिस शासन में अन्तिम सत्ता किसानों और मज-

दूरों के हाथ में न हो वह स्वराज्य नहीं कहला सकता।" "स्वराज्य का अर्थ गोरे नौकरशाहो के स्थान पर गेहुए वर्ण के नौकरशाहों का आ जाना नही है।"

गाधीजी मजबूत लेबर-यूनियनो के बनाने में विश्वास करते है। वह अस्थायी पिकेटिंग का भी समर्थन करते है। उनके मतानुसार सफल हड़ताल के लिए निम्न लिखित शर्तें मुख्यतः आवश्यक हैं:—

(१) हिंसा का प्रयोग न करना चाहिए।

(२) हड़ताल तोड़नेवालों को कष्ट न देना चाहिए।

(३) दान या यूनियन सहायता पर निर्भर न रहना चाहिए।

(४) दृढ रहना चाहिए, चाहे हड़ताल कितनी भी लबी हो, और हड़ताल के दिनो मे कोई दूसरी अस्थायी मेहनत-मजदूरी करनी चाहिए।

(५) हड़ताल का कारण न्यायपूर्ण होना चाहिए।

(६) हड़तालियों में व्यावहारिक एकता होनी चाहिए।

कुछ लोगो का कहना है कि हड़ताल या बहिष्कार का दबाव भी एक प्रकार का बल-प्रयोग है, और हिसात्मक है। कितु ऐसा होना आवश्यक नही है। नई और श्रेष्ठतर सामाजिक रचना करने के लिये पुरानी व्यवस्था के अशो से सहयोग बंद करना कभी-कभी आवश्यक हो जाता है। यदि हड़ताल या बहिष्कार किसी निश्चित योजनाबद्ध सुधार या श्रेष्ठतर समाज-व्यवस्था के प्रयत्न का निषेधात्मक भाग हो तो वह हिसात्मक नही हो सकता। गाधीजी का विदेशी वस्त्र का बहिष्कार इसी प्रकार का है।

कुछ लोगों को शंका है कि सामूहिक अहिंसात्मक प्रतिरोध भी एक प्रकार का बल-प्रयोग है। उससे भी विरोधी की स्वतंत्रता में बाधा पहुचती है या उसके हित की हानि होती है। वह भी हिसात्मक है। यह शंका मिथ्या है। क्योकि अहिसात्मक प्रतिरोध तो केवल मानसिक दबाव है। हर मानसिक क्रिया का शरीर पर भी प्रभाव पड़ता है, इसी तरह अहिंसात्मक प्रतिरोध भी पड़ता है। हिंसात्मक युद्ध मे भी वे मान-

सिक क्रियायें ही प्रधानता रखती हैं। अब यदि एक व्यक्ति के बजाय एक समूह उसका प्रयोग करता है तो निःसंदेह उसका दबाव उतना ही अधिक पड़ेगा, किंतु उसमें अनुचित बात कुछ नहीं है। 'बलप्रयोग' यह शब्द-योजना ही भ्रमोत्पादक है, क्योंकि इसका अर्थ प्रायः शारीरिक बल से संबंध रखता है। अहिसात्मक प्रतिरोध में उच्चतर भावनाओं को जागृत करने का यत्न किया जाता है। इसके अतिरिक्त हिंसात्मक बल-प्रयोग और अहिंसात्मक प्रतिरोध के दबाव की मात्रा में भी भारी अंतर है। और यदि कई कार्यों का परिणाम एक-सा ही होता है, तो इसका यह अर्थ नहीं है कि वे कार्य भी मूलतः एक ही है। एक वृक्ष बिजली के प्रहार से, या जीर्ण होकर या कुल्हाड़ी के आघातो से गिर सकता है। किंतु परिणाम एक-सा होने का तात्पर्य यह नही है कि क्रियाएं भी समान ही हैं । और अहिसात्मक प्रतिरोध से जिस विषय में हानि पहुंचती है, वह प्रायः हिसा के आधार पर कायम रहने वाला ही होता है। जिस प्रकार यह वाक्य कहा जा सकता है कि 'उसकी दलील मे बड़ा जोर है, या उसके सौंदर्य मे बड़ा जोर है,' इसी प्रकार कहा जाता है कि अहिंसात्मक प्रतिरोध मे भी बड़ा जोर होता है। अहिसात्मक प्रतिरोध मे विरोधी की भावनाएं, इच्छाएं और धारणाएं परिवर्तित होकर उदात्त हो जाती है और दोनो पक्षों का पूर्ण समाधान हो जाता है। इसमें हिंसा नही है, और कोई अनैतिकता नहीं है। पूर्ण निस्वार्थ और आत्म-त्याग युक्त नैतिक दबाव नीतिशास्त्र के किसी भी आदर्श के समान ही उच्च हैं । आजकल की समाज-व्यवस्था द्वारा जिस आर्थिक दबाव और नैतिक हिंसा का प्रयोग हो रहा है, उससे तो नैतिक दबाव अच्छा ही है। वर्तमान पूंजीवादी आर्थिक व्यवस्था में पूंजीपति और मजदूर में परस्पर-सम्मान की भावना नहीं है। पूंजीपति तो मजदूरों को अपने कार्य का एक साधनमात्र, अपने व्यावसायिक यन्त्र का केवल एक पुर्जा समझते हैं । जब तक उद्योग-धंधों में दोनों पक्षों में सौदा करने की शक्ति की समानता, या इसी प्रकार की कोई नैतिक समानता नहीं उत्पन्न होती तब तक औद्योगिक शान्ति स्थापित नहीं हो सकती।

मेरा खयाल है कि बहुत सी हडतालो की असफलता का कारण यह होता है कि पूजीपति और मजदूर दोनो एक ही विचारो और धारणाओं, हिंसा और मुद्रा संबधी विचारो के जाल में फंसे रहते हैं। मेरे विचार से हड़तालों में अन्ततः सफलता प्राप्त करने के लिए मन-वचन-कर्म की अहिंसा आवश्यक है।

आर्थिक क्षेत्र मे आजकल इतना सघर्ष है कि सभवतः मजदूर-संगठनो, किसान सगठनो और, पराधीन जातियो को अहिंसात्मक प्रतिरोध के मार्ग और अनुशासन का प्रयोग करने और विकास करने का अधिक अवसर प्राप्त होगा। मजदूरो पर इस समय अनेक प्रकार के अन्याय, कानूनी और अमली हो रहे है, इसलिए उनके सगठनो का यह कर्तव्य हो जाता है कि वे उन अन्यायो का प्रतिकार अहिसात्मक मार्ग से करे। अन्य समुदायो की अपेक्षा उन्होने इस मार्ग का आशिक प्रयोग अधिक भी किया है। जैसे-जैसे उनका अहिसा सबन्धी अनुशासन और ज्ञान बढ़ता जायगा वैसे-वैसे उनके विजय के अवसर बढते जायगे। उनकी अन्य कठिनाइयों के साथ-साथ उनपर अहिसा मार्ग को सफल बनाने का भार भी आ पडा है, इससे उनमे कटुता होने का कोई कारण नही है। उनमें इस कार्य की अधिक क्षमता है, क्योकि धनिक लोगो की अपेक्षा गरीब लोग मानवीय एकता की भावना अधिक दृढ और स्पष्ट रूप से रखते हैं।

यदि अनुदारदली लोगों को 'मजदूरो के अन्यायो' की आशका हो तो उनके लिए भी अहिसा का मार्ग खुला हुआ है। किन्तु उन्हे भी मन-वचन-कर्म से अहिसक रहना चाहिए, और प्रत्येक प्रकार के कष्ट-सहन के लिए तैयार रहना चाहिए।

युद्ध की भाति आधुनिक पूजीवाद में भी अनेक गुण है—उदाहरणतः—कार्यशक्ति, उत्पादक शक्ति, सूझ, साहस, दूरदर्शिता, साधन-सम्पन्नता, व्यवस्थितता, विज्ञान और यन्त्रकला का उपयोग, सगठनशक्ति, साख इत्यादि। इनमे से अनेक गुणो का अनुकरण तो सोवियट शासन ने भी किया है। किन्तु पूजीवाद मे अनेक दोष है, और अहिसात्मक प्रतिरोध इन दोषो को नियन्त्रित करने या हटाने मे बहुत सहायक हो

सकता है। अहिंसा के प्रयोग से संभवतः निम्नलिखित लाभ होंगे:–

(१) आजकल प्रत्येक विषय में जो धन का महत्व बढ गया है, उसमें सुधार होकर मनुष्य का महत्त्व बढ़ने लगेगा।

(२) मजदूरी प्रथा पर नियन्त्रण तथा उसमें सुधार होने लगेगा, जिससे कि मजदूर लोग दूसरो के स्वार्थों के साधनमात्र न रहें।

(३) बड़े-बड़े कारखानों, कम्पनियों, बैंकों या शासन-संगठनों में नौकरशाही के बढ़ने से जो अत्याचारपूर्ण दोष आ रहे हैं उनकी रोक होने लगेगी।

(४) राज्य की टैक्स लगाने और खर्च करने की शक्ति का नियंत्रण होने लगेगा।

(५) पराधीन देशों के निवासियो का अनुचित शोषण बंद होने लगेगा।

(६) केवल रुपया-सबन्धी वर्तमान लेन-देन की पद्धति पर नियन्त्रण होकर, नये प्रकार के लेन-देन या साख का विकास होने लगेगा।

(७) व्यक्तिगत सम्पति के कानून की अनुचित बातों का सुधार होने लगेगा।

(८) व्यक्तिगत सम्पत्ति के मुकाबले में सार्वजनिक कल्याण पर अधिक ध्यान जाने लगेगा।

(९) मजदूरो और किसानों की भाषण, सम्मेलन, लेखन व हड़ताल करने आदि की स्वतंत्रताओं के दमन के लिए सरकारी फौज या पुलिस का उपयोग कम होने लगेगा या मिटने लगेगा ।

(१०) जनता में फैली हुई हीनत्व-भावना मिटने लगेगी।

आधुनिक पूजीवाद के आधार है, माल बेचने के लिए संसार के बाजार पर नियन्त्रण, मजदूर प्राप्त करने के लिए मुक्त–बाजार, मजदूरों पर नियन्त्रण, और कच्चा माल देने वाले प्रदेशों पर प्रभुत्व। इन बातों के बिना आधुनिक पूजीवाद जीवित नही रह सकता। और ये सब बातें मुख्यतः हिंसा द्वारा प्राप्त की गई हैं और इनकी रक्षा हिंसा ारा ही की जा रही है। इसलिए जिस मार्ग द्वारा हिंसा की शक्ति

छिन जाती है, उसीके द्वारा पंजीवाद नष्ट हो सकेगा और आर्थिक न्याय प्राप्त हो सकेगा।

कुछ लोगों को अहिंसा मार्ग बहुत धीमा प्रतीत होता है, किंतु उसके स्थायी और पूर्ण परिणाम को देखते हुए निस्सन्देह यही सबसे तेज मार्ग है। प्रत्येक समाज एक जीवित वस्तु है और उसका विकास धीरे-धीरे होता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि फेबियनमत की तरह धीमे-मन की अनिवार्यता होती है या अंध निष्क्रिय विकास होता है। किन्तु इच्छाशक्ति का ज्ञानपूर्वक, सावधानतापूर्ण, दीर्घकालीन, सतत प्रयत्न चलता रहता है। यह सत्य है कि कभी-कभी तेज आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तन भी होते है, जैसे कि प्रकृति मे भी कलियो का फूलना, जीव-जन्तुओ का जन्म होना आदि क्रियाए एकदम होती है। किन्तु इन एकदम होने वाली घटनाओं के पहले भी आन्तरिक विकास और वृद्धि का लम्बा समय व्यतीत होता है। न तो समाज और न राज्य ही कोई ऐसा यन्त्र है जो किसीके दिमाग मे उत्पन्न हुआ हो और लोगो के ऊपर जमा दिया गया हो। ये जीवित वस्तुए है, और जीवित वस्तुए तो सूक्ष्म प्रेरक कारणो की बार-बार दीर्घकालीन आवृत्तियो से बढ़ती है। यदि वृद्धि के लिए समय न दिया जायगा, और यदि हलके प्रेरक-कारण प्रयुक्त न किये जायगे, तो संगठन न्यायपूर्ण, शान्तिपूर्ण, निर्दोष और स्थायी न होगा। कार्य को फिर प्रारम्भ से ही दुबारा करना होगा।

हिंसा प्रकृति के इस नियम का भंग है। हम इस प्राकृतिक नियम को समझने और प्रयुक्त करने मे लगातार और बार-बार- असफल हुए है, और यही कारण है कि मानवीय प्रगति बहुत धीमी हुई है। मनुष्य के समाजो में जो अच्छाइयां नजर आती है, वे इस नियम के आंशिक पालन के कारण ही है। पिछली दो शताब्दियो में प्रकृति के अज्ञात भौतिक नियमो के अन्वेषणों के प्रयोगो के कारण अद्भुत प्रगति हुई है। नियम प्रकार यदि हम हलके प्रेरक कारणो (Gentle Stimulus) के नियम को पूरी तरह और विस्तार से समझ लें. और निरन्तर प्रयुक्त

करें, तो हम सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रों में भी बड़ी शीघ्र प्रगति कर सकते है।

भिन्न-भिन्न वर्णों की जातियों में जो आज संघर्ष चल रहा है, उसमें भी अहिंसात्मक प्रतिरोध अत्यन्त लाभदायक हो सकता है।

यद्यपि अहिसात्मक प्रतिरोध सब रोगों की रामबाण औषधि नही है, किन्तु वह मनुष्य-समाज के हाथ में एक ऐसा कारगर साधन जरूर है, जिसके द्वारा हम संसार को नये ढाचे में ढाल सकते है।

: ६ :

अहिंसा और राज्य-संस्था

अहिसात्मक प्रतिरोधी ही आधुनिक राज्य-संस्था में स्वतंत्रता की कुंजी है। यह तब समझ में आजायगा जब हम यह समझ जायंगे कि राज्य-सस्था के कार्यों मे शक्ति और बलप्रयोग का कितना भाग है।

सभी विचारक स्वीकार करते है कि बलप्रयोग आतंक और हिसा राज्य-सस्था के प्रधान अंग रहे है और अब भी है। विशेषतः राजनीतिक शासन कार्य में। यदि किसीको इस विषय में विद्वानों की सम्मति से मत-भेद हो तो उसे युद्धो के पिछले और वर्तमान खर्चो तथा जेलखानो और अदालतो के खर्चो को जोडकर देखना चाहिए, और कुल खर्च से अनुपात निकालना चाहिए। राज्य-सस्था के कई अच्छे अग भी हैं, किंतु वे बल-प्रयोग संबंधी अगो से अधिकता नही रखते।

यह स्थिति, साम्यवादियो या कम्यूनिस्टो के कथनानुसार किसी विशेष शासक वर्ग के कारण नही है किन्तु उस आन्तरिक मानसिक वृत्ति के कारण है, जो तथाकथित 'सभ्य' ससार के सब वर्गों और श्रेणियो में व्याप्त है। मार्क्सवादियों का मत है कि राजनीतिक स्वरूप बिलकुल आर्थिक शक्तियों के कारण निर्धारित होता है। हमारा कहना है कि राज-नीतिक और आर्थिक दोनों प्रकार की क्रियाओं का, विशेषतः जहांतक हिसा और बलप्रयोग का संबन्ध है, और भी गहरा कारण मनोवैज्ञानिक है। हमारे

अपने, व्यक्तिगत और सामूहिक, जीवन और प्रवृत्तियों मे जो हिंसा और बलप्रयोग की वृत्ति है उसीका प्रतिबिम्ब और परिणाम राज्यसंस्था में पड़ता है।

अहिंसात्मक प्रतिरोधी का विश्वास होता है कि राज्यसंस्था के अधिकांश कार्यों का आधार एक भ्रम पर है ; और वह भ्रम यह है कि सामाजिक सगठन और सामाजिक कार्यो का भय ही सबसे प्रबल और अच्छा प्रेरक है। उसका विश्वास है कि भय विभेदकारी है इसलिए वह स्थायी एकता और सगठन का आधार नही बन सकता। उसका मत है कि परिवार मे और शिक्षा के क्षेत्रो मे तो यह अनुभव हो ही चुका है कि कार्य का ठीक आधार भय नही हो सकता। इसमे भय के बजाय बौद्धिक कुतूहल, आश्चर्य, प्रेम और सहयोग की अधिक रचनात्मक और उत्पादनात्मक शक्तिया उपयोग मे लाई जाने लगी है। इसलिए शीघ्र ही राज्य-सस्थाओं के बडे सगठनो के लिए भी यही अनुभव होगा, और उनके लिए अहिंसात्मक प्रतिरोध ही सभवत· महत्वपूर्ण साधन बनेगा।

अब हम राज्यसस्था के उन अगो और समस्याओ पर विचार करेंगे जिनका सबध उससे तथा अन्य समूहो या अगो से होता है, और जिनमें हिंसा या अहिंसा का भाग होता है। हम निम्न प्रकार से विचार करेंगे-—

१. राज्य-सस्था के सामान्य विरोधी अर्थात अन्य राज्यसंस्थाएं और अपराधी।

२. राज्य-संस्था के विशेष विरोधी अर्थात् युद्धवाद के विरोधी और अहिंसक प्रतिरोधी।

युद्ध की भाति पर-राष्ट्र नीति मे भी अहिंसात्मक प्रतिरोध उपयुक्त हो सकता है, क्योकि दोनो का पारस्परिक निकट संबंध भी है। इस मार्ग से सब राष्ट्रो का सम्पूर्ण सैनिक खर्च बच सकता है। दूसरे राष्ट्रो से सत्यतापूर्ण और खुला व्यवहार रखने से गुप्तता और चालबाजी की आवश्यकता न रहेगी। गाधीजी का तरीका इस सिद्धात का एक जीता-जागता उदाहरण है। जो मामले पचायत द्वारा तय न हो सकेंगे, उनमें अहिंसात्मक प्रतिरोध काम दे सकेगा। केवल अहिंसा काम न देगी, जैसा कि चीन के पिछले

उदाहरण से प्रतीत होता है। निश्चयात्मक प्रतिरोध होना चाहिए। १९२२ के भारतीय असहयोग आन्दोलन से एक अच्छा उदाहरण प्राप्त आ है।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को सुधारने के अनेक प्रयत्न हुए है, किंतु उनमें अधिकाश जड के स्थान पर पत्तो का इलाज किया गया है। सुलह-नामों, राष्ट्र-संघों अन्तर्राष्ट्रीय अदालतों और अन्तर्राष्ट्रीय कान्फ-रेन्सों से मनुष्य जाति की मानसिक प्रवृत्तिया या मन के अभ्यास सुधर नही सकते। शाति-स्थापक केवल बाहरी बातों का इलाज करते हैं, और आर्थिक, सामाजिक, शैक्षणिक, धार्मिक, और राजनैतिक क्षेत्रों की गहरी आन्तरिक प्रवत्तियो की, जो युद्ध के कारण है, उपेक्षा करते है।

बहुत से शातिवादी युद्ध के पहले तो उसका विरोध करते रहते हैं किन्तु जब सरकार युद्ध-घोषणा कर देती है तो वे उसके समर्थक बन जाते है। ऐसे शातिवाद से कोई वास्तविक लाभ नहीं हो सकता। अंत-र्राष्ट्रीय शांति के लिए एक विश्व समाज के विकसित करने की आवश्य-कता है, और इसके लिए जिस पारस्परिक सहिष्णुता, सम्मान और सद्भावना की जरूरत है वह व्यवहारत. अहिंसात्मक प्रतिरोध से ही उत्पन्न हो सकती है। अधिकांश शाति-योजनाओं का एक दोष यह होता है कि उनको कार्यान्वित करना सरकारो या बडे संगठनों या कम-से-कम प्रस्तावकों से भिन्न अन्य लोगों पर निर्भर रहता है। इसका व्यवहार व्यक्ति स्वयं भी अपने छोटे-छोटे सम्बन्धों में कर सकता है, जिससे आगे बड़े रूप मे व्यवहार करने का अभ्यास हो सके।

राज्यों के सघर्ष और मतभेद के अनेकों कारण हैं, किंतु उनमें से एक का ही यहां कुछ विवेचन किया जायगा। इस समय अनेक राष्ट्रों ने अपनी आर्थिक और राजनीतिक आधीनता मे अन्य राष्ट्रों को दबा रखा है और इस कारण उनमें परस्पर ईर्षा-द्वेष उत्पन्न हो रहा है। योरप और अमेरिका मे यह मान लिया गया है कि भूमि में सदा एक-सी ही फसल नहीं करनी चाहिए। भिन्न-भिन्न फसलें बदल-बदल कर करने से भूमि की उर्वराशक्ति कम नही होती। किंतु यहांके राष्ट्र

अपने लिए कच्चा माल प्राप्त करने की दृष्टि से पराधीन राष्ट्रों से एक ही विशेष प्रकार की वस्तुए उत्पन्न करवाते हैं—यथा, रबर, जूट, रुई, सन, शकर, चाय, तम्बाकू, तिलहन आदि। इससे पराधीन–राष्ट्रों की भूमि और उपज को हानि पहुचती है, और उनकी क्रयशक्ति भी घटती है। शासक राष्ट्र अपने को सभ्यता फैलाने के ठेकेदार समझते हे, और अन्तर्राष्ट्रीय परस्परावलम्बन आदि भ्रमपूर्ण सिद्धांतों का सहारा लेते है। किंतु वे पराधीन राष्ट्रो को अपनी मर्जी के अनुसार व्यवहार नही करने देते। यह भी एक प्रकार की हिसा है। अब यह परोपजीवन या शोषण चल नही सकता। पराधीन राष्ट्र भी आर्थिक बहिष्कार और बडे रूप में अहिसात्मक प्रतिरोध का आश्रय लेने लगे है। प्रत्येक राष्ट्र को अपने अन्न-वस्त्र आदि सामान्य मानवीय आवश्यकताओ के विषय मे स्वावलम्बी होने का अधिक-से-अधिक यत्न करना चाहिए। राष्ट्रीय आत्मसम्मान, पारस्परिक अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा और आर्थिक परोपजीवन की रोक के लिए आर्थिक रूप से आवश्यक है कि प्रत्येक राष्ट्र अपने देश की आवश्यकताओ के लिए अधिक-से-अधिक स्वावलम्बी बने। इसके अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार चलता रहे, किंतु उसमे भी अन्य राष्ट्रों का शोषण न्यूनतम करने का ध्यान रखा जाय। प्रत्येक राष्ट्र को, और राष्ट्र के भीतर प्रत्येक समुदाय को पर-राष्ट्र के शोषण की न्यूनतम मात्रा को नीचा रखने के लिए अपने सत्ताधारियो के विरुद्ध अहिसात्मक प्रतिरोध करना चाहिए।

किसी राज्य-संस्था के बाहरी राज्यो से गलत सबंध बहुधा राज्य के समुदायो के गलत सबंधो के कारण भी होते है। उदाहरणत: इंग्लैड के अपनी भोजन सामग्री के लिए बाहरी देशो पर निर्भर रहने और इस प्रकार अपना साम्राज्यवाद फैलाने का आंशिक कारण इंग्लैड के भीतर सन् १४०० के लगभग बर्ती हुई वह नीति भी है जिसके द्वारा छोटे-छोटे काश्तकारो की भूमि छीन कर बडे-बडे भूमिपतियो के अधिकार में दे दी गई थी। इस सिद्धांत की दृष्टि से यह प्रतीत होता है कि राज्य-संस्था और उसके भीतर के भिन्न-भिन्न समूहो या वर्गों के बीच के संबंध

यदि सुधारे जायगे तो इससे भी अच्छे अन्तर्राष्ट्रीय संबंध बनने में सहायता पहुचेगी।

अब हम राज्य-सस्था के भीतर के अको पर विचार करेगे।

प्रत्येक राष्ट्र में एक विशेष शासक वर्ग या समुदाय होता है। उदाहरणतः इग्लैंड में बडे-बडे बैंकर, व्यापारियों और लार्डों का समूह है; रूस में कम्यूनिस्ट पार्टी है, और संयुक्त राष्ट्र (अमेरिका) मे बड़े-बडे व्यापारी हैं। ये वर्ग शासन की कला जानते है, जो यद्यपि भिन्न-भिन्न देशो मे बाह्य रूप से भिन्न-भिन्न स्वरूप की होती है, किंतु सबमें अनेक मनोवैज्ञानिक समानताएं है। अभी तक शासक की कला का प्रायः तात्पर्य यह रहा है कि समूहो या शक्तिशाली व्यक्तियो के बीच अभिमान, लोभ, भय, ईर्षा, क्रोध रोष, और भेदभाव उत्पन्न करना, जिससे शासन सत्ता एक ही प्रमुख समूह के हाथ में रहे। विचार कीजिए कि दर्जों, पदवियो, खिताबों, सरकारी इनामो, और उच्चता तथा हीनता की भावनाओ के कारण कितना सामाजिक अभिमान और दर्प बढता है। जनता मे वर्ग या कुलीनता सबंधी भेदभाव रखना, और 'भेद-नीति' द्वारा शासन करना यह राजनीतिक शासन का एक मंत्र रहा है। इन क्रियाओं में पाखड और छल बहुत होता है। अहिंसात्मक प्रतिरोध इनके विपरीत सिद्धांतो पर बना है और उसके व्यवहार से राजनीति और शासनकला शुद्ध हो जायगी।

प्रत्येक राज्य में राज्य-संस्था प्रायः निरतर अपना बलप्रयोग जिस समुदाय पर करती रहती है, वह है अपराधियो का समुदाय। इसलिए यह जानना बडा महत्वपूर्ण है कि दण्ड-विज्ञान के सारे अनुभवो और मनोविज्ञान शास्त्रियो, अपराध शास्त्रियों और समाज-सुधारकों के सारे अन्वेषणों का सार यही है कि अहिंसात्मक प्रतिरोध की वृत्ति और व्यवहार ही अधिक उपयोगी है।

हजारों वर्षों से हिंसा और कठोरदण्ड का प्रयोग होता आया है। इनके प्रयोग से अपराधी और भी कट्टर बन जाता है। यदि किसी अपराधी मे दण्ड के बाद सुधार भी नजर आया होगा, तो वह उसकी

सदवृत्तियों को जाग्रत करने का परिणाम ही हुआ होगा। बुद्धिमत्ता के साथ प्रेम और सहानुभूति के व्यवहार से ही अपराधी की सदवृत्तिया जाग्रत हो सकती है। कठोर दण्ड केवल अपराधी के लिए ही हानिकारक नही है, बल्कि जेल के कर्मचारियो के लिए और समाज के लिए भी हानिकारक होता है। इसके अतिरिक्त हम यह भी जानते है कि अपराधी उत्पन्न करने वाली परिस्थिति पैदा करने का उत्तरदायित्व बहुत कुछ समाज पर ही है। अहिसात्मक उपायो से सुधार करना ही एक मात्र मार्ग है। इसका तात्पर्य यह है कि अपराधो को कम करने के लिए अपराधियों की मनोवैज्ञानिक जाच होनी चाहिए, और उनको मानसिक चिकित्सा संबंधी उचित भोजन दिया जाना चाहिए, और यदि आवश्यकता हो तो मानसिक चिकित्सक की देखरेख रहनी चाहिए। किसी उपयोगी उद्योग-धधे का शिक्षण दिया जाना चाहिए। बुद्धिमत्तापूर्ण सामान्य शिक्षण, अच्छा भोजन, अच्छा मकान, सभ्यता, सम्मान सहानुभूतियुक्त व्यवहार और स्वाभाविक विकास तथा जीवन के लिए प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। अदालतो का काम केवल अपराध की जाँच होना चाहिए, न कि दण्ड देना। अपराध की जाच होने के बाद अपराधी चिकित्सको, मनोविज्ञान-शास्त्रियो और शिक्षण-शास्त्रियो के सिपुर्द कर दिया जाना चाहिए, और अत मे उसके लिए उद्योग-धधे की व्यवथा कर देनी चाहिए। उद्देश्य यह होना चाहिए कि अपराधियो को अच्छा नागरिक बनाया जाय, न कि अच्छा कैदी।

वर्तमान समय मे, सभवत. ऐसे कई अपराधी होगे जो किसी प्रकार भी सुधर न सकेंगे, और जिनपर बन्धन की आवश्यकता होगी। वे तो आजकल की सामाजिक कुरीतियो और दोषपूर्ण दण्डविधान के अनिवार्य परिणाम है। वे मिट नही सकते, और न उनका बनना समाप्त हो सकता है जब तक कि समाज स्वय न सुधरे। अपराधियो का सुधार और जेलो का सुधार सामान्य सामाजिक और आर्थिक सुधार के अग है। जब समाज सुधर जायगा और अपराधियों को उचित चिकित्सा और व्यवहार प्राप्त होगा तो कैदियों की संख्या ही बहुत कम हो जायगी।

विक्षिप्त और मानसिक रोगी भी उचित चिकित्सा और व्यवहार से ठीक हो जाते हैं। कई लोग तो केवल अच्छा भोजन मिलने से ही अच्छे हो जाते है। इस विषय में अपराधो और मानसिक रोगों का विशेष निरीक्षण और अध्ययन किया जाना चाहिए और अहिसात्मक उपाय से चिकित्सा करने के उपाय ढूढने चाहिए ; और इनकी जानकारी जेलों, स्कूलों, पुलिस-वालों सुधार-संस्थाओं आदि को दी जानी चाहिए। इससे कारागार के बन्धन के अवसर बहुत कम हो जायंगे। और जहां इसमें कोई असफलता प्रतीत होगी, वहा यह मानना चाहिए कि यह कोई अनिवार्य प्राकृतिक असफलता नही है किन्तु स्वभाव के समझ सकने की हमारी असफलता ही है।

चोरों और डाकुओं से हिसापूर्ण रक्षा करने का हमारा आधार हमारे संपत्ति सम्बन्धी विचार है। चोर-डाकू अधिकांश में 'हृदय-हीन' होकर कत्ल नहीं करते, किन्तु इसलिए करते है कि उन्हे अपने को हानि पहुंचाये जाने की आशंका रहती है। यदि चोर-डाकुओ के प्रति निर्भीकता, उदारता और मित्रतापूर्ण रुख रखा जायगा, तो उनसे शारीरिक हानि प्राप्त होने के अवसर अपेक्षाकृत कम हो जायगे। इस दृष्टिकोण से प्रतीत होता है कि अन्तत. हमारे लिए सम्पत्ति की हिंसात्मक रक्षा का त्याग करना संभव और व्यावहारिक हो जायगा। अहिसात्मक प्रतिरोधियों का यह भी एक कर्तव्य है कि वे ऐसी स्थिति उत्पन्न करें। मनुष्यजाति के लिए उसमे निरन्तर प्रगति होती रहनी चाहिए।

राज्य-सस्था और कैदी, इन दोनो मे से यदि किसीको भी दूसरे के प्रति कोई शिकायत हो तो वह दूसरे के प्रति अहिंसात्मक मार्ग को ग्रहण कर सकता है। राज्य कैदी के साथ अहिंसात्मक सुधारक का व्यवहार करेगा। कैदी यदि अनुभव करे कि वह मानसिक स्वस्थता रखता है और राज्य उसके साथ अन्याय कर रहा है तो वह भी वैसा व्यवहार कर सकता है जैसा कि गांधीजी द्वारा राजनीतिक कैदियों के लिए बनाये हुए जेल-व्यवहार के नियमो में बताया गया है।

कठोर दण्डों और मृत्यु दण्डो के लिए सरकार के अधिकारियों की

बहुत निन्दा करना भी एक भ्रम है। दोष तो अधिक शासनतन्त्र का है, और शासनतंत्र हमारी आन्तरिक मनोवृत्तियों और धारणाओं का ही प्रतिबिम्ब है। हमें भूल के सुधारने की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए।

पुलिस-प्रथा मे भी हिसा कम करने की दिशा में सुधार करना आवश्यक है। आजकल किसी भी जटिल समाज मे पुलिस के कुछ कार्य तो आवश्यक ही हैं–जैसे, शहर मे सड़को पर यातायात का संचालन,, विदेशियो को जानकारी देना, खोए हुए बच्चों को ढूढना, बड़ी-बड़ी भीड़ो का नियन्त्रण करना, सार्वजनिक आपत्ति, अग्नि, बाढ़, महामारी आदि में सहायता पहुंचाने के कार्य में नेतृत्व करना, आदि। ये समाज-सेवा के कार्य है। समाज में अहिसा अधिक फैल जाने पर भी संभवतः कुछ लोगो की हिसा की आदत बनी रहेगी, जिनमे आत्मसयम की मात्रा कम होगी, और जो बलप्रयोग से अपना कार्य सिद्ध करना चाहेगें। अहिसात्मक वातावरण बन जाने के बाद भी शायद एकदो पीढी तक पुलिस को उस स्थिति में अत्यन्त सीमित मात्रा मे शक्ति लगाने की अनुज्ञा देना आवश्यक होगा जिसमे कोई व्यक्ति शारीरिक हिंसा कर रहा हो या करने वाला हो। इग्लैड मे कई वर्षो तक अनुभव करके यह नतीजा निकाला है कि ऐसी स्थितियो में भी बदूको, लाठियो, या निर्दयता की आवश्यकता नही होगी। यह असंदिग्ध है कि पुलिस की अधिकाश क्रूरता को तुरन्त बन्द करना चाहिए। और जैसे-जैसे समाज अहिसा का शिक्षण पाता जाय और हिंसात्मक अपराधो की परिस्थिति हटती जाय, वैसे-वैसे पुलिस की समस्त हिसा को ही मिटा देना चाहिए। भविष्य मे पुलिस दल राष्ट्र का समाज-सेवक दल होगा। इस समाज-सेवक दल मे सुदृढ, बुद्धिमतापूर्ण और उत्पादक प्रेम होगा और उसके लोग अपने उदाहरण और नेतृत्व से अपने दैनिक कर्तव्य के रूप में जनता को अहिसा का शिक्षण देने का यत्न करेगें। इसी दशा मे पुलिस विभाग का विकास होना चाहिए।

: १० :

राज्य और अहिंसक प्रतिरोधी

राज्य संस्था के भीतर उससे असाधारण प्रकार का विरोध रखने वाले दो प्रकार के व्यक्ति हो सकते है। एक तो युद्धवाद के धार्मिक विरोधी, और दूसरे विशेष कानूनों या स्वयं उस शासन का विरोध करने वाले अहिंसात्मक प्रतिरोधी।

व्यक्ति की अन्तरात्मा और राज्य संस्था, दोनों में से कौन बड़ा है, इस पर विस्तृत विवेचन करना यहा अनुचित होगा। जिनको इस विषय मे सन्देह हो वे अन्य पुस्तकें देखें। हम तो यह मानकर चलते है कि संसार मे हिसा फैली हुई है, और राज्य-संस्था उसका मुख्य संगठित साधन है। हम अनेक दलीले देकर समझा चुके है कि हिसा-मार्ग असफल है, और अहिसामार्ग ही अधिक सफल है।

अन्य समस्त सस्थाओ की भाति राजसंस्था भी एक अपूर्व संस्था है और अहिंसात्मक प्रतिरोध इसको पूर्ण बनानेवाला साधन है। प्रत्येक देशभक्त और मानव जाति के हितचिन्तक का यह कर्तव्य है कि वह मनुष्य के समाज रचना के तरीके को पूर्ण बनाने का प्रयत्न करे। यदि राज्यसंस्था को मानवीय समाज-संगठन के बड़े-बड़े सिद्धांतों का एक व्यक्ति रूप माना जाय, तो जब युद्ध या युद्ध का भय उपस्थित हो जाता है, तो उन सिद्धातो पर विशेष आपत्ति आ जाती है। ऐसे अवसरों पर अहिंसात्मक प्रतिरोध में विश्वास रखने वालो का कर्तव्य हो जाता है कि वे अपने सिद्धान्तों की रक्षा करें, और इस प्रकार राज्य सस्था की श्रेष्ठतर अन्तरात्मा का रक्षण करें। किंतु युद्ध के समय अन्तरात्मा सम्बन्धी अर्थात् धार्मिक आपत्ति रखने वालों की स्थिति कठिन हो जाती है, इसलिए उनके विषय में थोड़ा विवेचन करना आवश्यक है।

राष्ट्र को युद्ध के लिए बलपूर्वक भर्ती की आवश्यकता प्रतीत होती है,

और वह प्रत्येक नागरिक को भर्ती के लिए मजबूर करता है। यह दलील दी जाती है कि शांति के समय में भी किसी व्यक्ति को यह कहने का अधिकार नहीं है कि चूंकि मेरी अन्तरात्मा कहती है, इसलिए मैं अमुक कार्य करूंगा ही। अदालत चोरों या खूनियों के इस दावे को नहीं मान सकती कि मेरी अन्तरात्मा ने कहा, चोरी करो या खून करो। इसी प्रकार जो लोग राष्ट्र के युद्ध में सहयोग नहीं देते उन्हें या तो मजबूर किया जाय, या जेल डाला जाय।

किंतु यह दलील अन्तरात्मा-संबंधी आपत्ति करने वालों पर नहीं लग सकती। उनके युद्ध-विरोध के मूल हेतु को नहीं समझा गया है। वे तो विधान या कानून से भी अधिक गहरे किसी उद्देश्य का विचार कर रहे हैं। वे एक गहरी बैठी हुई पुरानी बुरी आदत और मनोवृत्ति को सुधारना चाहते हैं। यह सुधार सरलता या शीघ्रता से नहीं हो सकता इस बड़े परिवर्तन के लिए किसी न किसी को बड़ी कीमत चुकानी पड़ेगी और इसलिए यदि इन पर आपत्ति, कष्ट और मुसीबत आती है तो इन्हें सहन करना चाहिए। सहर्ष कष्ट-सहन से ही तो वे मानवजाति के विचारों और व्यवहारों को बदल सकते हैं। उन्हें यह भी मान लेना चाहिए कि जो लोग युद्ध में भाग लेना चाहते हैं उन्हें अपने विश्वास के अनुसार चलने का अधिकार है, किंतु इन्हें तो, स्वयं अपने उदाहरण द्वारा श्रेष्ठतर मार्ग बताने का यत्न करना चाहिए।

युद्ध के लिए राज्य को धन देना चाहिए या नहीं? या, किसी अंश में कर देना बंद करना चाहिए या नहीं? जब तक अहिंसक प्रतिरोधी को यह प्रतीत न हो कि राज्य सम्पूर्णतः दोषपूर्ण है, या उसमें सुधार होना अशक्य है, तब तक राज्य से सब प्रकार का सहयोग बन्द करना आवश्यक नहीं है। वह राज्य के दोषों, उनके स्वरूपों, और निकट लक्ष्य को देखते हुए अपने प्रतिरोध की मात्रा को निश्चित कर सकता है। यदि राज्य कभी युद्ध-विरोधियों की जान-माल की रक्षा करने से भी इन्कार कर दे तो उन्हें घबराना नहीं चाहिए। क्योंकि मनुष्य की सच्ची रक्षा तो मानव-समाज में व्याप्त शिष्ट-व्यवहार के अभ्यास से ही होती है।

किंतु युद्धवादियों और उनके समर्थकों को युद्धविरोधियों के विरोध से अधिक डरने की आवश्यकता नहीं है, और न युद्धविरोधियों को अपनी हालत खराब होने का ख़याल करना चाहिए। क्योंकि युद्ध में यान्त्रिक साधनों के बढते जाने से अब तो युद्ध भरती का सिद्धांत ही बेकार-सा होने लगा है। अब तो सामान्य सिपाहियों की अपेक्षा युद्ध-तन्त्र-चालकों और विशेषज्ञों की अधिक आवश्यकता होती है।

अहिंमात्मक प्रतिरोध कर्तव्य-पालन को टालना नहीं है किन्तु अधिक महान कर्तव्य और उद्देश्य को पूर्ण करना है। इसके द्वारा व्यक्तियों और राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्धों को अधिक-से-अधिक स्वच्छ, पवित्र, उच्च, सहयोगपूर्ण, एकतापूर्ण और स्थायी आधार पर स्थापित करने का यत्न किया जाता है। अहिंसात्मक प्रतिरोध मनुष्यो और राष्ट्रों के संबंधोंके लिए उच्चतम धारणाओं को उत्पन्न करने और बनाये रखनेवाला होता है।

कुछ लोगों को सम्भवतः प्रतीत होगा कि एक ओर तो सद्भावना और सहयोग का आदर्श और दूसरी ओर असहयोग और आवश्यक हो तो आर्थिक बहिष्कार का व्यवहार परस्पर संगत नही है। किन्तु ध्यानपूर्वक विचार करने से प्रकट होगा कि सफल और स्थायी सहयोग के लिए पहले दोनों पक्षों में काफी समानता और पारस्परिक सम्मान होना चाहिए। प्रायः अहिंसात्मक प्रतिरोध का प्रथम प्रयत्न इसी लक्ष्य के लिए होता है कि आध्यात्मिक समानता मान ली जाय और व्यवहार सम्मानपूर्ण हो। पहले इस तत्व के स्थापित हो जाने से फिर सच्चा और उत्तम सहयोग हो सकता है।

अहिंसात्मक प्रतिरोध कानून मात्र की अमान्यता या अराजकता नही है। अहिंसात्मक प्रतिरोध राज्य-संस्था के अस्तित्व का विरोधी नही है। वह राज्य के दोषों का विरोध करता है, न कि राज्य मात्र का या कानून मात्र का। बल्कि उसमें तो प्रतिरोधियों के लिए स्वेच्छापूर्ण आत्म-संयम और अनुशासन का पालन बड़ा आवश्यक कर्तव्य होता है। इसी कारण अहिंसात्मक प्रतिरोध 'शांति और व्यवस्था' का विरोधी भी नहीं

है। अनेक औद्योगिक राष्ट्र अपने आर्थिक लाभ के लिए दूसरे देशों पर 'शांति और व्यवस्था' लादने का यत्न करते है। शांति और व्यवस्था न्यायपूर्ण और लोकसम्मत होनी चाहिए, और उसमे अल्पसंख्यकों और बहु-संख्यकों सबका उचित ध्यान रखा जाना चाहिए। अहिंसात्मक प्रति-रोध द्वारा कभी-कभी क्षणिक अशांति और अव्यवस्था प्रतीत होगी, किंतु उसको अधिक पूर्ण और उच्च शांति और व्यवस्था स्थापित करने के लिए अनिवार्य माना जा सकता है। वह श्रेष्ठतर समाज-व्यवस्था स्थापित करने की तैयारी का भाग है। अहिंसात्मक प्रतिरोध से तो अव्य-वस्था न्यूनतम होती है। शांतिपूर्ण प्रतिरोध तो व्यवस्थित-पन से भी ऊंची वस्तु है, वह उत्पादक है। उसके दृढ़ अनुशासन से अत्यधिक एकता की भावना उत्पन्न होती है।

यह सत्य है कि कानून और व्यवस्था का सम्मान करना एक महत्व-पूर्ण सद्‌गुण है। किंतु इसका यह तात्पर्य नही है कि प्रत्येक प्रकार का कानून या सरकार का हुक्म ही मानव-समाज के लिए आवश्यक है। यह हो सकता है कि कोई विशेष कानून या सरकार का हुक्म असामयिक या अन्यायपूर्ण हो। बलप्रयोग और भय द्वारा लादा हुआ कोई भी बाहरी कानून मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अवश्य अव्यवस्था या अराजकता उत्पन्न करनेवाला होगा।

कोई-कोई यह आपत्ति करते है कि सरकार के किसी विशेष खराब कानून को भंग करने के बाद प्रत्येक कानून या शासन के भंग करने की आदत पड़ जायगी। किंतु हिंसात्मक क्रांतियों के विषय मे, जो इग्लैंड फ्रांस, रूस, इटली, जर्मनी, संयुक्तराष्ट्र (अमेरिका) आदि देशों मे हुई, ऐसी कोई बात उत्पन्न नही हुई। फिर अहिंसात्मक प्रति-रोध के विषय में ही यह शंका क्यो की जाती है? मानव-जीवन और स्वभाव के साथ चाहे व्यक्तिगत दृष्टि से देखें या सामूहिक दृष्टि से, व्यवस्था तो आवश्यक और स्वाभाविक रूप से रहती ही है। यह संभव है कि जिस प्रकार की व्यवस्था से हम परिचित हो वह परिवर्तित होजाय, किंतु वही व्यवस्था सर्वोत्तम या वांछनीय है यह मानने का हमको अधि-

कार नहीं है। दक्षिण अफ्रीका और चम्पारन, खेड़ा और बारडोली के सत्याग्रहों के बाद उसमें भाग लेनेवाले लोग तुरंत व्यवस्था-पालक बन गये। इसलिए अहिंसात्मक प्रतिरोध से अव्यवस्था फैलने की आशंका बिलकुल नहीं करनी चाहिए।

कुछ लोग शंका करते हैं कि अहिंसात्मक प्रतिरोध से 'भीड़' उभड़ जायगी और अव्यवस्था या उपद्रव करेगी। यह बात सही है कि भावनाओं का भीड़ पर व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक शीघ्रता से प्रभाव पड़ता है और वह संयम कम रख सकती है। कुछ लोग इसको मानव जाति की प्रारंभिक स्थिति की प्रवृत्ति कहते हैं, किंतु मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह स्वास्थ्यकारक भी है। मन की भावनाओं का दमन करना अच्छा नहीं है। भीड़ की कार्य-शक्ति में जोखिम तो है, किंतु इससे अद्भुत काम भी लिया जा सकता है। इस विवरण से लगातार कई वर्षों तक अहिंसा का शिक्षण देने और अनुशासन उत्पन्न करने की आवश्यकता सिद्ध होती है तथा यह भी सिद्ध होता है कि अहिंसात्मक प्रतिरोध में ऐसे अहिंसक नेताओं की अत्यंत आवश्यकता है जिन्होंने वर्षों तक जनता की इतनी सेवा की हो कि जनता का उनपर अटल विश्वास हो और वह उनका अनुसरण करने को तैयार हो।

भीड़ के कभी-कभी हिंसा या क्रूरता के कृत्य कर डालने का कारण उसकी कुछ-कुछ विकार-युक्त मानसिक अवस्था हो सकती है, जिसमें कि उसकी कुछ दबी हुई चित्त-वृत्तिया संयम की कमी से फूट पड़ी हों। इन दबी हुई चित्त-वृत्तियों में एक तो हीनत्वभावना-जन्य रोष है। किन्तु सामूहिक अहिंसात्मक प्रतिरोध के अनुशासन और उच्च नैतिक उद्देश्य के कारण ऐसी रोष-वृत्ति नियन्त्रण में रहेगी, और हीनत्व-भावना के कम होते जान से अंत में मिट जायगी। युग-युग से समाज के मुखियाओं ने ही, अपने उदाहरणों द्वारा, हिंसा का महत्व बढ़ाया है, और समाज में सामाजिक दर्जे और भेदभाव कायम करके ऊंच-नीच भावना उत्पन्न की है जिससे कि भीड़ में रोष आदि वृत्तियां उत्पन्न होने की संभावना रहती है। अहिंसक नेता तो लोगो के सामने एक नयें प्रकार का उदाहरण उपस्थित

करते हैं, जनता को सावधानतापूर्वक शिक्षण और अनुशासन देकर तैयार करते हैं, जिससे कि उसकी कार्यशक्ति हिंसा की दिशा में न फूटकर नई दिशा में उपयोगी बनती है। यह शंका की जा सकती है कि अहिंसात्मक प्रतिरोध में जो शक्ति जाग्रत हो जायगी वह नेताओं की सीमा से बाहर निकल जायगी, और नियन्त्रणरहित हो जायगी। ऐसा हिंसात्मक युद्ध में अवश्य हो जाता है। भीड़ो द्वारा और सेनाओं द्वारा बड़े-बड़े भयंकर कृत्य हो जाते हैं। यदि किसी-किसी युद्ध में ऐसी घटनाएं नहीं होतीं, तो उसका कारण केवल अनुशासन और संयम होता है। और यह अनुशासन और सयम अहिंसात्मक मार्ग में भी रहता है। और फिर भी यदि कोई अव्यवस्था शक्ति उत्पन्न हो जाय, तो वह अस्थायी होती है, और उसका जोर व्यवस्था-शक्ति से कम ही होता है।

राज्यसस्था के विरोध में अहिसात्मक प्रतिरोध का आदोलन दीर्घकाल तक नही चलाया जा सकता, यदि उसका आधार सत्य या सुधार की कोई निश्चित योजना न हो, क्योकि राज्यसंस्था एक अत्यन्त बलशाली सस्था होता है, और उसका विरोध करने और कष्ट सहने का साहस वही रख सकता है जिसका सत्य और किसी उच्च लक्ष्य पर विश्वास हो। ऐसे आन्दोलन से अव्यवस्था का भय करना अनुचित है। इसके अतिरिक्त ऐसे आंदोलन का किसी स्वार्थपूर्ण या सामाजिक दृष्टि से किसी हानिकारक लक्ष्य के लिए प्रयुक्त किया जाना भी संभव नहीं है।

गांधीजी ने अहिसात्मक प्रतिरोध की जोखिम के बाबत निम्नलिखित वाक्य लिखे हैं :—

"सविनय अवज्ञा में खतरा इसलिए है कि अभी तो उस मार्ग का प्रयोग आंशिक ही हुआ है, और सदा हिंसा से पूर्ण वातावरण में ही उसका उपयोग करना पड़ता है; क्योकि जब अत्याचार और अन्याय हो रहा है, तो जिनपर अत्याचार और अन्याय होता है उनमे बड़ा क्रोध उत्पन्न हो जाता है। यह क्रोध उनकी कमजोरी से दबा रहता है, और जब थोडासा भी अवकाश मिलता है तो भभक उठता है। सविनय अवज्ञा ही ऐसा सर्वोत्तम मार्ग है जिससे यह अनुशासन-हीन जीवन-

नाशक गुप्त शक्ति एक अनुशासनपूर्ण जीवनसाधक शक्ति के रूप में परिवर्तित हो जाती है और जिसके प्रयोग से सफलता अवश्य मिलती है। इसमें जो जोखिम है वह होनेवाले परिणाम के मुकाबले में कुछ भी नहीं है। जब संसार उसके प्रयोग से परिचित हो जायगा और जब उसके सफल प्रयोग के कई प्रदर्शन हो जायंगे, तब तो उसमें उतनी जोखिम भी नही रहेगी, जितनी कि आजकल वायुयान-संचालन में होती है, भले ही विज्ञान ने इस दिशा में खूब प्रगति करली हो।"

और फिर भी यदि कोई कहे कि अहिंसात्मक प्रतिरोध एक खतरे-से भरा कार्यक्रम है, तो हम इतिहास से सिद्ध करके कहेंगे कि स्वयं राज्य-संस्थाएं भी, विशेषतः पाश्चात्य देशों की, खतरे से भरी हुई हैं।

अहिंसात्मक प्रतिरोध के आंदोलन में जब कभी हिंसा फूट पड़ती है तो वह या तो जनता में शिक्षण, तैयारी और अनुशासन की कमी से होती है या भड़काने वाले एजेण्टों या गुप्तचरों के कारण होती है। भारतीय व्यवस्थापिका सभा मे १२ जुलाई १९३० को भारत सरकार के गृह सदस्य श्री हेग ने ईमानदारी से स्वीकार किया था कि अधिकांश रूप में अहिंसा कायम रही है; और लन्दन के डेली 'हेरल्ड' पत्र के विशेष संवाददाता श्री स्लोकम्ब ने भी भारतीय आन्दोलन में अहिंसा को अधिक-से-अधिक पालन किये जाने की साक्षी दी है। अन्य अंग्रेज और अमेरिकन पत्रकारों की भी यही सम्मति रही है। इसके अतिरिक्त यह बात भी सब जानते हैं कि सरकारी रिपोर्टें तो कर्मचारियों की रिपोर्टों के आधार पर तैयार होती है और वे अपने ही कृत्यों के बारे में सत्य को कितना विकृत कर देते हैं।

यह आपत्ति की जा सकती है कि कोई भी सरकार सविनय अवज्ञा या अहिंसात्मक प्रतिरोध को बढ़ने नहीं दे सकती, क्योंकि "प्रत्येक सरकार का प्रथम कर्तव्य है शासन करना" अर्थात् जनता से अपने कानूनों को मनवाना। किन्तु सरकार की कर्तव्य-सम्बन्धी यह धारणा गलत है। शासन के साथ-साथ सदा यह शर्त लगी हुई है कि शासितों की रजामन्दी प्राप्त करके शासन किया जाय। किसी भी सरकार का

प्रथम कर्तव्य है कि वह समस्त जनता या अधिकाश जनता के विश्वास और प्रेम को संपादन करे।

अब अन्य उठने वाली आपत्तियों पर भी विचार कर लेना चाहिए।

क्या अहिंसात्मक प्रतिरोध "अवैधानिक' है? 'वैधानिक' शब्द उन उपायों के लिए लागू किया जाता है जिनसे अखबारों और सभा-सम्मेलनो के मार्ग से शाब्दिक वाद-विवाद और समझाइश द्वारा राजनीतिक बहुमत प्राप्त किया जाता है, और उस बहुमत की इच्छा को फिर धारासभाओं द्वारा या शासनतत्र के अधिकारियों द्वारा अथवा देश के आर्थिक नियंत्रण की शक्तियो द्वारा कार्यान्वित कराया जाता है। अहिंसात्मक प्रतिरोध में ये सारे उपाय सम्मिलित हैं, और कुछ अन्य उपाय भी प्रयुक्त होते हैं। उसमे शब्दो की समझाइश देने के अलावा अपने कृत्य और उदाहरण से भी समझाया जाता है। अहिंसात्मक प्रतिरोध ऐसे साहसी लोगों के उदाहरण भी उपस्थित करता है जो अपने पक्ष की सचाई का इतना विश्वास रखते हैं कि उसके लिए प्रत्येक प्रकार का कष्ट सह सकते है। यद्यपि यह उपाय राजनीति में नई वस्तु है, किन्तु मानव-सगठन के उच्चतम स्वरूप के अनुकूल है, बल्कि उसके लिए आवश्यक भी है। राजनीतिक प्रजातत्रवाद का तात्पर्य है सहमति से शासन करना जैसा कि वोट के अधिकार से ही सिद्ध होता है। जहां सहमति का अधिकार है वहा असहमति, इनकार या निषेध (Veto) का भी अधिकार रहता है, जिसमे प्रसन्नतापूर्वक उस असहमति का मूल्य चुकाना भी शामिल रहता है। अहिंसात्मक प्रतिरोध से अल्पसंख्यकों की कई राजनीतिक और सामाजिक समस्याएं सुलझ जायगी।

क्या अहिंसात्मक प्रतिरोध राजद्रोहात्मक है, अर्थात क्या वह उस सरकार के प्रति असतोष उत्पन्न करता है, जिसका कि अहिंसक प्रतिरोधी एक नागरिक है? नहीं, आवश्यक रूप से वह राजद्रोहात्मक नही है; क्योंकि उसका प्रयोग सरकार के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों या संस्थाओं के विरुद्ध भी किया जा सकता है। यदि उसका प्रयोग किसी सरकार के विरुद्ध भी किया गया तो भी वह संभवतः केवल किसी विशेष कानून के

ही विरुद्ध हो सकता है। यदि वोट देने, सार्वजनिक भाषण देने, सभाएं करने, जुलूस निकालने, अखबार छापने, संस्थाएं बनाने आदि में मूलतः राजद्रोह नही है तो अहिंसात्मक प्रतिरोध में भी मूलतः राजद्रोह नहीं है। हां, यह सत्य है कि कभी-कभी उसका उपयोग राजद्रोह के लिए भी हो सकता है, जैसा कि उपर्युक्त सभी साधनों का हो सकता है। यदि जैसा कि संयुक्त राष्ट्र (अमेरिका) की 'स्वाधीनता की घोषणा' में लिखा है कि कभी राजद्रोह भी आवश्यक हो जाता है, तो राजद्रोह का सबसे अच्छा मार्ग अहिंसात्मक प्रतिरोध ही है।

अभी तक राजद्रोह के साथ हिंसा भी संयुक्त मानी जाती थी, किन्तु गांधीजी ने सिद्ध कर दिया है कि राजद्रोह और हिंसा पृथक् भी की जा सकता है। यदि कोई सरकार अहिंसात्मक प्रतिरोध का दमन करेगी, तो वह अनेक कारणों से अनुचित होगा।

सच बात तो यह है कि आजकल की अधिकाश सरकारों का अस्तित्व ही सफल राजद्रोह या विद्रोह पर आधारित है। ग्रेट ब्रिटेन में क्रामवेल ने राजद्रोह किया, संयुक्तराष्ट्र (अमेरिका) में जार्ज वाशिगटन ने राजद्रोह किया, फ्रांस में भी राज्यक्रांति हुई थी, इसी प्रकार जर्मनी, इटली, रूस, तुर्की, चीन, मेक्सिको आदि देशो में भी विद्रोह हो चुका है। जब राजद्रोह सफल हो जाता है, तो उसका नाम होता है वीरता, और जब वह असफल होता है तब उसे राजद्रोह कहते हैं।

इसके अलावा, राज्यसंस्था के कारनामे ही बताते हैं कि उसमें कितनी हिंसा भरी हुई है। राज्य का इतिहास ही बताता है कि अन्य संस्थाओं की अपेक्षा उसमे अधिक हिंसा है। जब मानव-समाज के न्यायालय के सामने राज्य अपना अभियोग अहिंसात्मक प्रतिरोधियों के विरुद्ध पेश करेगा तो उसे इन दो सिद्धांतो का स्मरण कर लेना होगा, (१) "जो न्याय चाहता है, उसे न्याय करना भी चाहिए।" और (२) "जो न्याय चाहता है उसका भी दामन पाक होना चाहिए।"

राजद्रोह राष्ट्र की सामान्य इच्छा के विरोध करने का एक तरीका है। किंतु राष्ट्र की यह 'सामान्य इच्छा' कोई अपरिवर्तनीय सख्त चीज

नहीं है। नई परिस्थितियों में और नई समस्याएं खड़ी हो जाने पर राष्ट्र की इच्छा निरंतर बदलती रहती है। राष्ट्र में [अनेक व्यक्ति, अनेक वर्ग और अनेक दल अपने-अपने विचार उपस्थित करते है, परस्पर वाद-विवाद करते हैं और दूसरो को अपने विचार समझाते है और ऐसा यत्न करते हैं जिससे कि वे विचार सर्वमान्य होकर राष्ट्र की इच्छा का स्वरूप ग्रहण करले। अहिंसात्मक प्रतिरोध वास्तव मे राजनीतिक समझाइश के तरीको मे से एक है। व्यक्तिगत प्रयोग के लिए तो वह इनीशिएटिव, रिफरेण्डम, और रिकॉल के राजनीतिक तरीको से भी पुराना है। और चूकि उसकी पद्धति, लक्ष्य और परिणाम पूर्णतः शातिमय है, इसलिए वह समाज के लिए पूर्णतः स्वास्थ्यवर्धक है। ऐसे आन्दोलन के लिए अदालतो मे अभियोग चलाना विरोधियों को जेल में डालने का बहाना मात्र या 'जिसकी लाठी उसकी भैस' कहावत को सत्य सिद्ध करना मात्र है।

सच्चा कानून हुक्म के जोर से उत्पन्न या लागू नही किया जाता, बल्कि लोक-सहमति से किया जाता है। वास्तविक व्यवहार मे असामयिक होजाने, जनता के विरोध करने या धारा सभा के गभीर विचार के अभाव आदि कारणो से प्रायः कानून बेकार बन जाते है। कई कानून ऐसे बन जाते है जो जनता की सच्ची लोक-सहमति को प्रकट नही करते। यह लोक-सहमति सदा बदलती रहती है। और नैतिक कारणो से एक प्रकार के कानून की अवहेलना का अर्थ सभी प्रकार के कानूनों का असम्मान करना नही होता। अमेरिका के मसाचुसेट्स प्रात मे 'नीले कानून' बने हुए है, लेकिन उनकी पूर्ण अवहेलना की जाती है। फिर भी वहां के लोग पूर्ण कानूनहीन या व्यवस्था-हीन नही हो गये है। चूंकि अहिंसात्मक प्रतिरोध जनता का मत या लोक-सहमति तथा सरकार की सचाई जांचने का एक तरीका है, इसलिए वह सरकार के स्थायित्व और जनता की अनुभव शक्ति के लिए सहायक होगा और इसीलिए उसका स्वागत होना चाहिए।

अहिंसात्मक प्रतिरोध स्वतः कोई शासन प्रणाली नहीं है। किंतु

उससे जनता को यह जांचने की शक्ति प्राप्त होती है कि सरकार का अस्तित्व उसके हित के लिए है या नही । इसके द्वारा जनता सरकार को अपना सेवक बनने और अपनी इच्छा को मानने के लिए मजबूर कर सकती है। राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक मामलों में समस्याओं के विचारने और योजनाओं के बनाने का काम प्राय: अधिक शिक्षित और साधन-संपन्न लोगों का होता है। अधिकांश जनता तो प्राय: किसी प्रकार हां या ना मात्र प्रकट करती है। शासक वर्ग के पास प्रतिष्ठा, शिक्षा, धन, प्रचार, कुशलता आदि कारणों से अधिक बल रहता है, और अधिकाश जनता के पास अपना विरोध प्रकट करने की कोई स्थायी या दृढ शक्ति नही होती। अहिंसात्मक प्रतिरोध ही जनता के पास एक ऐसा सफल साधन है जिससे वह अपनी असहमति प्रकट कर सकती है, किन्तु इससे शिक्षित या संपन्न लोगों को डरने की आवश्यकता नही है, क्योंकि विचारने या योजनाएं बनाने की शक्ति तो उन्ही के हाथ मे रहेगी, उन्हें केवल उसका उपयोग सच्चे समाजहितकारी कार्यों के लिए करना पड़ेगा। अहिंसात्मक प्रतिरोध किसी प्रकार की डिक्टेटरी नहीं होती। सत्ता प्राय: सत्ताधारी व्यक्ति या समूह के लिए उन्मादक या जहरीली हो जाती है । किन्तु जो सत्ता अहिंसात्मक प्रतिरोध द्वारा प्राप्त होगी या सुरक्षित रखी जायगी, जिसमे सत्य और खुला व्यवहार होगा, जिसमें स्वेच्छापूर्ण कष्ट-सहन, उत्पादक प्रेम, सेवा और नम्रता होगी वह सत्ताधारियो के लिए या राज्य के लिए हानिकारक न होगी।

: ११ :

जीवनशास्त्र से प्रमाण

'शरीर-रचना-शास्त्र' की दृष्टि से भय और क्रोध का कार्य है शरीर को पलायन या युद्ध के लिए तैयार करना । इस तैयारी के लिए समस्त शरीर का अर्थात् मस्तिष्क, ऐच्छिक मांसपेशियों की संचालक वात-नाडियों, पिंगला Sympathetic नाड़ीजाल, श्वासोच्छ्वास-प्रणाली,

रक्त-संचारण और चुल्लिका (थायरोइड), एड्रीनाल, और यकृत् सहित रक्तशक्त्युत्पादक सब ग्रन्थियों का-एकीकरण और उत्तेजन करना होता है। और चूकि विचारो का सबन्ध मस्तिष्क के कार्य से है इसलिए भय और क्रोध का प्रभाव मन पर भी पडता है। भय और क्रोध में क्रिया हलकी से बढ़कर तीव्र हो जाती है।

सब जानवरों के जीवन में, और मनुष्य के इतिहास की अत्यन्त प्रारंभिक स्थिति में जब कि वह प्रायः शिकारी जानवर के ही समान था, मनुष्य को तत्काल भागने या लडने की आवश्यकता होती रही है। इसलिए मनुष्य के विकास के पिछले युगों में अपनी जाति-रक्षा के लिए भय और क्रोध अत्यन्त मूल्यवान थे। इस लम्बे अभ्यास के कारण मनुष्य में ये भावावेश अब आदत से बन गये हैं।

किन्तु आजकल भय और क्रोध उतने उपयोगी या आवश्यक नहीं है, जितने पहले थे। मनुष्य की प्रकृति और उसके संभवनीय खतरों की जानकारी बहुत अधिक बढ़ गई है, और उसके साथ अपनी स्थिति का नियंत्रण करने की शक्ति भी बढ गई है। उसने अनेक प्रकार के हथियारो, औजारो, कृषिशास्त्र, रसायनशास्त्र, यन्त्रसाधन, यातायात-साधन, तेल, कोयला बिजली आदि का उपयोग सीख लिया है। उसकी ज्ञानशक्ति और संगठनशक्ति बढ गई है। इससे प्रारंभिक समय की खतरनाक परिस्थितिया मिट गई है, जिनके लिये कि उसे तत्काल भागने, लडने आदि के गतितन्तुओं का उपयोग करना पड़ता था। अब मनुष्य के सामने खतरे दूसरे प्रकार के है जो आम तौर पर बहुत धीरे-धीरे बढते हैं और जो इतने जटिल होते है कि उनका सामना तात्कालिक स्वाभाविक गति-तन्तुओ के द्वारा नही हो सकता। मनुष्य के आधुनिक शत्रु है-मानसिक या आर्थिक विफलताएं, रोग, दरिद्रता, सामाजिक हानि आदि। इन खतरो का मुकाबला शारीरिक पलायन या युद्ध की अपेक्षा सावधानता, दूरदर्शिता, बौद्धिक शक्ति आदि द्वारा अधिक सफलतापूर्वक किया जा सकता है। आजकल भी मनुष्य को शक्ति की अवश्यकता है, किन्तु मांसपेशियों की कम, और बौद्धिक तथा नैतिक प्रकार की अधिक।

चूंकि अब मनुष्य के लिए मासपेशियों की आकस्मिक या तीव्र क्रिया की एकान्तिक आवश्यकता कम हो गई है, इसलिए इनसे सम्बन्ध रखने वाले भावावेशों–भय और क्रोध की तथा ऐसी क्रिया की तैयारी की भी कम आवश्यकता होगई है। इसके अतिरिक्त मनुष्य का विकास अब इस सीमा तक पहुंच गया है कि मनुष्य के लिए भय और क्रोध अब कम आवश्यक ही नही, किन्तु निश्चित रूप से बाधक होगये हैं। भय और क्रोध मानव व्यक्ति और जाति के स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है। इस बात के समर्थन के लिए हम निम्नलिखित प्रमाण देते है।

अनेक प्रसिद्ध शरीर–रचना शास्त्रियों का कथन है कि भय और क्रोध सब भावावेशों की अपेक्षा अधिक थकानेवाले होते है। अमेरिका के एक बड़े सर्जन, डाक्टर जार्ज क्राइल लिखते है :–

"भय हानि या चोट से उत्पन्न होता है और यह भावावेश संभवतः सबसे पुराना और निश्चित रूप से सबसे प्रबल है।...इस भावावेश की और गति–तन्तुओ सम्बन्धी कार्यो की क्रियाएं समान ही होती हैं।... चूंकि भय हानिया चोट से उत्पन्न हुआ है, इसलिए संवेदन-ज्ञान-गति–तन्तु समवाय (phylogenitic association) के नियमानुसार उस से वातनाड़ीजाल की शक्ति का व्यय होता है।... पहले यह बताया जा चुका है कि भय सम्बन्धी प्रेरक कारण से प्राणियों में असाधारण शक्ति प्रकट हो जाती है। भय की क्रियाओं के विश्लेषण से प्रकट होता है कि, जहां तक निश्चित हो सका है, शरीर के शक्ति–व्यय के वे कार्य जिनका आत्म-रक्षण के प्रयत्न से प्रत्यक्ष सम्बन्धी नही है, सब स्थगित हो जाते हैं। शिकार आदि के मांसपेशी-सम्बन्धी स्वेच्छापूर्ण शक्ति-व्यय में अन्य कार्य इतनी पूर्णता से स्थगित नही होते। भय और हानि से व्यय में योग्य शक्ति इतनी अधिक निकल जाती है कि उससे अधिक से अधिक थकावट हो सकती है।"

कैनन ने सिद्ध किया है कि शरीर पर क्रोध और भय दोनों के परि-णाम बिलकुल एक से होते हैं। इसलिए क्राइल ने जो भय के विषय में कहा है वह क्रोध के विषय मे भी सत्य है। बाद के अन्वेषणों से क्राइल

को इसी बात का और भी प्रमाण मिला है और यही बात उसने और भी जोर के साथ लिखी है।

कैनन ने बड़ी अच्छी तरह से और पूर्णता के साथ सिद्ध किया है कि भय और क्रोध दोनों में शरीर के पाचन-मार्ग की सम्पूर्ण क्रियाएं, पाचन-सबन्धी रसो का निकलना और मांसपेशियो की क्रियाएं बंद हो जाती है ; और यदि भय का आवेश तीव्र होता है तो यह पक्षाघात तुल्य प्रभाव घटना के कई घटे बाद तक रहता है। यही बात लम्बे अरसे तक हो या बार-बार हो तो उससे पाचन-प्रणाली की बड़ी हानि होती हैं। क्राइल का कथन है कि "हमारे प्रयोगों से सिद्ध होता है कि भय के कारण मस्तिष्क मे, यकृत् में और एड्रीनाल ग्रंथियों में भारी परिवर्तन हो जाते है। कुछ उदाहरणों में पाया गया कि रक्त तीव्रता से विषाक्त (acidosed) हो गया। कुछ उदाहरणो में, पेशाब में एल्बुमिन और शकर उत्पन्न हो गई। जैसा कि कैनन ने सिद्ध किया है, एड्रानेलीन की उत्पत्ति बढ गई। मस्तिष्क, यकृत् और दूसरे अंगों में बिजली की संवाहकता (Conductivity) मे परिवर्तन होगया।"

कैनन ने सिद्ध किया है कि भय और क्रोध में रक्त में एड्रानेलीन और शकर की वृद्धि हो जाती है। उसने तथा क्राइल आदि ने बताया है कि रक्त में एड्रानेलीन होने से पाचन-क्रिया (matabolism) बढ़ जाती है, और चुल्लिका ग्रंथि (Thyroid) की क्रिया बढ़ जाती है, रक्त का दबाव बढ़ जाता है, नाडी तेज चलने लगती है, श्वासोच्छ्वास तीव्र हो जाता है, ल्यूकोसाइटोसिस (श्वेत-रक्ताणु-वृद्धि) हो जाता है, रक्त पसीना बढ़ जाता है, आख की पुतलियां चौडी हो जाती हैं, रक्त शरीर की सतह की तरफ़ अधिक हो जाता है, और मस्तिष्क-क्रिया बढ़ जाती है।

आधुनिक जीवन में यद्यपि ऐसे अवसर बहुत आते हैं कि जिनसे कम या अधिक मात्रा में भय या क्रोध उत्पन्न होते हैं, तो भी वयस्कों में भागने या लड़ने की क्रिया अपेक्षाकृत कम होती है। इसलिए कई लोगो के रक्त में एड्रानेलीन और शकर की अधिकता हो सकती है,

जिसका शमन शारीरिक परिश्रम या अन्य संरक्षणात्मक क्रियाओं द्वारा नहीं होने पाता। उदाहरणतः, एक बार कैनन ने प्रयोग के रूप में अपने मेडिकल स्कूल की एक कक्षा के सब विद्यार्थियों के रक्त की परीक्षा की ओर फिर घोषित किया कि वह उनका बडा सख्त इम्तिहान लेनेवाला है, और इस प्रकार कुछ घटों तक उन्हें चिन्ता की स्थिति में रखा। इसके बाद उसने उनके रक्त की फिर परीक्षा की। प्रत्येक के रक्त में शकर की मात्रा बढ़ गई थी। इससे सिद्ध होता है कि भय और क्रोध के छोटे स्वरूपों– चिता, फिक्र, आशंका, चिढ, परेशानी आदि– में भी उसी ढंग के परिणाम होते हैं जैसे कि तीव्र भय या क्रोध में, किंतु उनकी मात्रा कम होती है।

कैनन और क्राइल ने सिद्ध किया है कि यदि शारीरिक परिश्रम द्वारा रक्त के एड्रानेलीन और शकर की अधिकता का शमन न हुआ, तो उससे शरीर को हानि पहुंचती है। यह शारीरिक हानि मुख्यतः एसीडोसिस (रक्त-विषाक्तता) होने (जिसकी शुद्धि रक्त-सेल्स द्वारा होना कठिन होता है), रक्त में हायड्रोजनाइन–(hydrogenion concentration) केंद्रीकरण बढ़ने, और अलकालाइन कोष कम होने के रूप में होता है। तीव्र या बार-बार की चिन्ता और क्षोभ से भी डिस्पेपसिया आदि पाचन-रोग उत्पन्न होते है।

दूसरे स्थान पर क्राइल ने लिखा है कि शरीर में सामान्य स्वाभाविक अलकालाइन प्रभाव रहना अत्यन्त आवश्यक है, और कई रोगों में एसिडोसिस तीव्र रूप में— प्रधान कारण होता है। उसका कहना है कि "मृत्यु का अंतिम कारण प्राय. एसिडोसिस होता है।" संभवतः रक्त में हायड्रोजनाइन-केंद्रीकरण बढने से और अलकालाइन कोष कम होने से शरीर की चर्म-रोगों से बचने की शक्ति कम हो जाती है, और शरीर के कई अंग जैसे गुर्दा, हृदय आदि कमजोर पड़ जाते हैं।

रोग बढ़ाने मे भय और क्रोध भी कारण होते हैं। यह १९१८ में युद्ध के बाद होने वाले इन्फ्लुएन्जा महामारी के उदाहरण से भी प्रकट होता है ; क्योकि यद्ध में दीर्घ काल तक चिंता और घृणा का प्रसार रहा था

और आर्थिक स्वरूप की परेशानियां भी बढी थी। गरीब लोगों में मृत्यु अधिक होने के कारणो में चिन्ता और परेशानी भी है। बचपन के रोगों में, जब कि बालक में तीव्र भावावेशो का जोर बढ़ने लगता है, मृत्युएं अधिक होती हैं। पाश्चात्य देशो में जहां एक स्थान पर बैठकर काम करने का अवसर बहुत होता है और जहां आधुनिक जीवन की परेशानियां बहुत बढी हुई हैं, हृदय रोगो, धमनी के कठोर होने और गुर्दे के रोगो सबंधी मृत्युएं बढ रही है। सम्भवत. यह भी सिद्ध किया जा सकता है कि जब-जब महामारियां हुईं तो वे आर्थिक कठिनाइयों, असुरक्षितता, और भयकर युद्धों के काल के बाद ही हुईं।

नीत्शे ने भी रोष को शरीर के लिए अत्यन्त हानिकारक बताया है और लिखा है कि बुद्ध की अक्रोध से क्रोध को जीतने की बात वास्तव में शारीरिक स्वस्थता का उपदेश है।

नीत्शे के कथन का समर्थन उपर्युक्त विद्वान् डाक्टरो के अन्वेषणो से होता है। क्रोध से बचाना वास्तव मे अच्छे स्वास्थ्य का एक सिद्धांत है। अहिंसात्मक प्रतिरोध, व्यक्ति के लिए और मानव-जाति के लिए, अत्यन्त स्वास्थ्यप्रद 'कार्यकुशलता' है। जो राष्ट्र इसे पूर्ण रीति से अपनायेगा, उसके सार्वजनिक स्वास्थ्य मे बहुत भारी सुधार होगा।

इस प्रकार यद्यपि मानव जाति के प्रारंभिक इतिहास में भय और क्रोध उस समय के खतरो से बचने के लिए अच्छे शक्ति-दाता थे, किंतु आजकल तो परिस्थितिया बहुत बदल जाने से वे बेकार ही नही, बल्कि हानिकारक भी बन गये है। यह विश्वास करने का काफी आधार है कि जीवन-शास्त्र की दृष्टि से वे अब कारगर भावावेश नहीं है, और उनका प्रकट होना साधारण अवस्था नही समझी जानी चाहिए।

यह सत्य है कि वे मनुष्य और जानवर जिनमे असाधारण प्रभुत्व-शक्ति होती है प्राय. इस शक्ति के कुछ भाग को क्रोध में खर्च होजाने देते है। ऐसे लोग कमजोर व्यक्तियों के मुकाबले में सफल हो जाते है, किंतु वे अपने क्रोध के कारण सफल नही होते बल्कि क्रोध की हानि उठाने पर भी अपनी बढ़ी हुई प्रभुत्व-शक्ति के कारण सफल होते

हैं। उनका क्रोध तो वास्तव मे शक्तिक्षय और बाधा का ही कारण बनता है। क्रोध बुद्धि को अंधा बना देता है और शक्ति का क्षय करता है। 'शक्ति की मितव्ययिता के सिद्धातवादियों' को मानव शक्ति के विषय में भी मितव्ययिता का ध्यान रखना चाहिए।

मनुष्य के (जिसके कि वात-स्नायु-जाल में पिछले १० हजार वर्षो से परिवर्तन नही हुआ है), इस समय की विकास की स्थिति मे यह प्रतीत होता है कि प्रेम द्वारा, जैसा कि सच्चे अहिंसक प्रतिरोधी में होता है, शक्ति को जाग्रत करना, कायम रखना और संचालित करना अधिक सफल हो सकता है। यह प्रतीत होता है कि इस समय भूमण्डल पर जंगली से लेकर अधिक-से-अधिक सभ्य तक जितने भी प्रकार के मनुष्य हैं, किसी-किसी प्रकार के मानसिक रोगियों को छोड कर, सब पर अहिंसक मित्रतापूर्ण व्यवहार का असर पड़ सकता है। जंगली लोगो पर भी अहिंसात्मक प्रतिरोध का अच्छा प्रभाव पडा है। इसलिए अब समय आगया है कि इस नवीन परिस्थिति में युद्ध-वृत्ति को भी उसी प्रकार परिवर्तित कर दिया जाय, जैसे कि मनुष्य की अन्य कई प्रारंभिक प्रवृत्तिया परिवर्तित हो गई हैं और उनकी शक्ति उदात्त होकर अन्य उत्पादक उद्देश्यो के लिए प्रयुक्त होती है।

कुछ लोग कहते है कि जीवन-शास्त्र की दृष्टि से युद्ध आवश्यक है। इसके द्वारा प्रकृति कमजोरो और बलवानों की छटनी करती है। और जीवन-शास्त्र की दृष्टि से युद्ध अनिवार्य भी है; क्योंकि लड़ाकू वृत्ति परिवर्तित नही हो सकती। किंतु ध्यान से देखने पर प्रतीत होगा कि रीढ़दार जानवरों में से मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जो संगठित सामूहिक युद्ध करके अपनी जाति का विनाश करता है और इससे सिद्ध होगा कि युद्ध जीवन-शास्त्र सबंधी घटना नही, किन्तु आदत या अभ्यास से उत्पन्न की हुई वस्तु है। थोड़े से विचार से प्रतीत होगा कि मनुष्य की प्रत्येक स्वभाव-जन्य वृत्ति में महान परिवर्तन और उदात्तीकरण हो चुका है। हम मानव-स्वभाव को बदल सकते हैं या नहीं, इसके विवाद में न पड़कर भी हम यह मान सकते हैं कि मानव-व्यवहार को बदला

जा सकता है। उदाहरणतः युद्ध क्या है? युद्धकला और युद्ध-शिक्षण द्वारा भय के भावावेश और पलायन की प्रवृत्ति का संपूर्ण संयमन कर लिया गया है। जीवन-संघर्ष में विजय आवश्यक रूप से बलवान की ही नही होती, किन्तु उसकी होती है जो परिस्थिति के अनुसार अपने को ढाल लेता है।

बल का भी जगत् में स्थान है। मृत्यु भी नये जीवन के लिए आवश्यक है, जैसा शिव और काली के गुणों से प्रतीत होता है। ईसा ने भी कहा है कि गेहू का एक दाना जब अपने आपको मिटा देता है तभी वह अनेक दूसरो को उत्पन्न करता है। किन्तु इससे यह सिद्ध नही होता कि मनुष्य को मनुष्य की हत्या करनी चाहिए। श्री ए. एन. व्हाइटहैड लिखते है कि "उन्नीसवी शताब्दि में मनुष्यों की जिह्वा पर ये शब्द रहे है—जीवन-सघर्ष, प्रतियोगिता, श्रेणी-युद्ध, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक विरोध और सैनिक युद्ध। जीवन-सघर्ष के सिद्धात को घृणा का मंत्र बना लिया गया है। किन्तु विकास-सिद्धात का निष्कर्ष वास्तव मे अधिक सतुलित प्रकार का होना चाहिए। सफल जीव वे होते है जो अपनी परिस्थिति को बदल सकते है। वे जीव ही सफल होते है जो अपनी परिस्थिति को इस ढंग से बदल सकते हैं कि परस्पर सहायक हो सकें। सहयोग नियम के उदाहरण प्रकृति मे बहुत है।......बल के तात्कालिक प्रयोग से सहयोग का द्वार बन्द हो जाता है। प्रत्येक जीव के लिए सहायको के वातावरण की आवश्यकता होती है, कुछ तो तीव्र परिवर्तनों से अपने-आपको बचाने के लिए और कुछ अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए। बल का मत्र सामाजिक जीवन से संगत नही है। यहां बल का अर्थ विरोध है।" इस प्रकार सामाजिक जीवन के लिए अहिंसा एक आवश्यक गुण है।

आत्म-रक्षण का अर्थ अब अपनी बडी आत्मा अर्थात् मानव-जाति का रक्षण हो गया है। अहिंसात्मक प्रतिरोध से व्यक्तिगत और सार्वजनिक स्वास्थ्य अधिक उन्नत होगा, और राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक संबंध अधिक अच्छे बनेंगे।

सूर्य से प्राप्त होनेवाली शक्ति का अधिक-से-अधिक उपयोग करके ही मानव-जाति आत्म-रक्षा और उन्नति कर सकती है। युद्ध और हिंसा द्वारा तो मानव-जाति अपनी आत्महत्या ही करेगी। जो अहिंसात्मक प्रतिरोधी अपने प्राण खो देता है वह जीवन शास्त्र की दृष्टि से हानि नहीं करता; क्योंकि वह प्रभाव और उदाहरण से मानव-जाति की रक्षा और उन्नति का अधिक अच्छा मार्ग बता जाता है जो कि मानव-जाति के जीवित रहने के लिए बड़ा महत्वपूर्ण है।

अहिंसा से समाज में सच्चा मानसिक स्वातन्त्र्य बढ़ता है, और मानसिक स्वातन्त्र्य से स्वास्थ्य सुधरता है। इसलिए अहिंसा स्वास्थ्य का मूलमंत्र है।

: १२ :

कुछ शंकाएं और प्रश्न

अहिंसात्मक प्रतिरोधियों के बाबत अनेक शंकाओं का उत्तर पिछले अध्यायों मे दिया जा चुका है। कुछ अन्य शंकाओं और प्रश्नो का उत्तर इस अध्याय मे दिया जाता है।

कुछ लोग कहते हैं कि सत्याग्रह का अर्थ है हर प्रकार का अन्याय या अत्याचार सहते हुए भी शांति की इच्छा रखना। यह बात गलत है। सत्याग्रही की शांति का अर्थ संघर्ष का अभाव नही है। वह तो मानता है कि मनुष्यो के विचारो और इच्छाओ में सदा संघर्ष होता ही रहेगा। किन्तु वह शांति का मूल्य दूसरो से नहीं चुकवाता, स्वयं ही चुकाता है। और जितनी उत्कृष्ट समाज-रचना हम बनाना चाहते हैं, उतना ही अधिक मूल्य हमको चुकाना चाहिए।

प्रो० राल्फ बार्टन पेरी का कथन है कि भौतिक शक्ति से ही सब वस्तुएं उत्पन्न होती है और उसीके कारण मनुष्य हिंसा और विनाश से सुरक्षित रहता है। यदि हम युद्ध का त्याग कर देंगे तो मानव-जाति ने अभी तक जितनी उन्नति और विकास किया है वह सब मिट जायगा। फिर तो

कोई भी व्यक्ति या कोई भी समाज किसी भी न्यायपूर्ण मनुष्य या स्वतंत्र और सुखी समाज का नाश कर सकेगा। बल ही न्याय नही है, किन्तु न्याय को भी बलवान बनाना सभ्यता का कर्तव्य है।

प्रो० पेरी के भ्रमपूर्ण तर्क का उत्तर विलियम ब्लेक और रिचार्ड राबर्ट्स ने दिया है। बडे-बडे सामान्य सिद्धांतो का नाम लेना व्यर्थ है जब तक कि व्यवहार मे उनका व्यक्तियो से सम्बन्ध न हो। एक ओर तो न्याय और स्वतत्रता का नाम लेना और दूसरी ओर उन्हीकी रक्षा के लिए उन्ही सिद्धान्तो की हत्या करना बडी गलती है। व्यक्तित्त्व की पवित्रता ही मुख्य वस्तु है, जिसके लिए स्वतत्रता, न्याय आदि के सिद्धांत बने है। इसलिए ऐसे साधनो का उपयोग नही करना चाहिए जिनसे कि व्यक्तित्त्व की अवहेलना हो। सत्याग्रही का विश्वास है कि मानव-समाज मे सद्भावना उत्पन्न करने का सिद्धान्त ऐसे साधनो से स्थापित नही किया जा सकता जो स्वयं सद्भावना के विरुद्ध है।

भौतिक शक्ति के प्रयोग के विषय मे प्रो० पेरी का सिद्धात शायद किसी भयकर विक्षिप्त आदि के बाबत सीमित रूप मे और सीमित परिस्थितियों में सही हो, किन्तु इससे युद्ध का औचित्य सिद्ध नही हो सकता, क्योकि वास्तविक युद्ध करने मे युद्ध की आवश्यकताओ के कारण क्रोध, घृणा और भय अनिवार्य रूप से उत्पन्न होते है। यदि आप उच्च सिद्धातो से या किसी विशेष जाति से इतना प्रेम करते है कि आपको उसकी रक्षा के लिए लोगों की हत्या करनी पड़ती है, तो इस विषय में बडा सन्देह उत्पन्न होता है। और वास्तव में भौतिक शक्ति और हिसा भी एक ही चीज नही है। हिसा के कारण न तो मानव जीवन उत्पन्न होता और न हिसा और विनाश से सुरक्षित ही रहता है।

किन्तु सत्याग्रही प्रो० पेरी से अधिक वास्तविकतावादी और वैज्ञानिक है। अहिसा को माननेवाला समझता है कि मेरा मत और विश्वास कुछ भी क्यो न हो, और उसके समर्थक लाखो आदमी भी क्यों न हो संभव है उसमे कोई भूल हो। इसलिए मैं इसकी रक्षा के लिए दूसरों की हत्या न करूंगा, बल्कि मै तो स्वयं ही कष्ट उठा लूगा। सम्भव है मानव

जाति-मात्र के हितकारी आदर्शों के लिए मनुष्यों की हत्या करना उचित हो, किन्तु यह भी संभव है कि मेरा मत और विश्वास उतने व्यापक रूप का न हो।

कई युद्धवादी प्रायः विशेष संस्थाओं को ही आदर्श समझने की भूल कर बैठते हैं। वे आदमी के बजाय संस्थाओं के लिए ही युद्ध करते हैं। उनके विचारानुसार आदर्श उनकी एक विशेष परिचित संस्था द्वारा ही व्यक्त हो सकता है। और वे यह भी भूल जाते हैं कि युद्ध का विशेष कार्य मरना नहीं, किन्तु मारना होता है।

जब अहिंसक प्रतिरोधी अपने आदर्श के लिए मरता है तो और व्यक्ति उस आदर्श को कायम रखने वाले निकल आते हैं। और उसके कार्य से उसकी स्वार्थपरायणता का संदेह कोई भी नहीं कर सकता। युद्ध का सैनिक समझता है कि जब तक वह दूसरे की हत्या न करेगा तब तक उसका आदर्श जीवित न रहेगा। किन्तु असिहक प्रतिरोधी समझता है कि हिंसा के बिना भी अनेक आदर्श संसार में जीवित रहे हैं, जब कि उसका जन्म भी नहीं हुआ था, और आगे भी जीवित रहेंगे। इसलिए वह दूसरे के प्राण लेने के बजाय अपने प्राण देने को तैयार रहता है। इसमें साहस भी अधिक है।

कुछ लोगों का कहना है कि शान्तिवादी लोग मनुष्य के जीवन का महत्व या मूल्य अत्यधिक बढ़ा कर बताते है, और वे यह नहीं समझते कि कोई-कोई आदर्श, जो जीवनप्रद है, वे जीवन से भी अधिक मूल्यवान होते हैं। * इसलिए शान्तिवादी लोग अतत्वदर्शी और भौतिकवादी हैं। यह बात गलत है। इसीलिए तो अहिसक प्रतिरोधी अपना जीवन उत्सर्ग करने के लिए तैयार रहता है। अपने प्राण देने से सब की दृष्टि में आदर्श की उच्चता का महत्व अधिक बढ़ जाता है, और यदि दूसरे को घायल किया जाता है या मारा जाता है तो आदर्श की भी प्रतिष्ठा घट जाती है।

---

* गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः। गीता। अनु०

कोई-कोई कहते हैं कि अहिंसात्मक प्रतिरोध अपनी आत्मरक्षा के अधिकार का त्याग है। यह बात भी सही नहीं है। अहिंसात्मक प्रतिरोध में 'रक्षा' का तरीका बदल जाता है और संभवत. 'आत्म' की भावना भी कुछ विस्तृत हो जाती है। किंतु रक्षा तो वास्तव में सक्रियता, सावधानी और सफलता से की जाती है।

किसी-किसी का कहना है कि अहिंसात्मक प्रतिरोध में युद्ध की भीषणता के विषय में अत्युक्ति की जाती है, और युद्ध के आदर्शवाद का महत्व घटाया जाता है। यह शका भी ठीक नही है। युद्ध की भीषणता के विषय मे तो युद्ध के सैनिकों मे फैली हुई कहानियां ही यथेष्ट प्रमाण है। और योद्धाओ के आदर्शवाद को प्रत्येक सत्यप्रेमी अवश्य स्वीकार करता है, और पिछले अध्यायो मे हम भी उसकी उचित प्रशंसा कर चुके है। कई सैनिक उतनी ही भावुकता और लगन से अपनी आन्तरिक प्रेरणा पर आचरण करते हैं जितनी कि कोई भी अहिंसक प्रतिरोधी या सन्त पुरुष करता है।

क्या अहिंसक प्रतिरोधी रक्तपात से डरता है? नही, वह तो स्वयं अपना रक्त देने के लिए तैयार रहता है।

किसी-किसी का यह आक्षेप है कि अहिंसक प्रतिरोधी सरकार के सैनिको के कार्यो का लाभ तो उठाता रहता है, किन्तु जब सरकार पर खतरा आता है ता वह उसकी सहायता करने से इनकार कर देता है। उसके मुकाबले में सैनिको की महानता कितनी है?

यह आक्षेप भी अनुचित है। यदि कोई अहिंसक प्रतिरोधी देश विशेष मे रहता है, तो यह उसका कोई दोष नही है। उसके माता-पिता ने उससे सलाह नही ली थी कि उसको किस देश में उत्पन्न करे या शिक्षित करे। इसके अतिरिक्त उसके किसी दूसरे देश मे जाने से लाभ नही है क्योकि कोई भी देश युद्ध-विश्वास-रहित नही है। वह जिस प्रदेश मे अपना काम-धधा करता हुआ रहता है वहां ही अपने देश के शासन को सुधारने का यत्न करता है। अपने टैक्स अदा करके और व्यवस्थित, स्वच्छ, परिश्रमी और पड़ौसियों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण रह

कर उसने सरकार के प्रति अपना कर्तव्य पूर्ण कर दिया है। किंतु यदि वह सरकार उसकी स्वीकृति के बिना, और राष्ट्र पर भारी व्यय लाद कर या भारी कर्जा करके अनुचित कार्य कर बैठती है तो उस सरकार के सुधार के लिए अपना कर बन्द करने में या युद्ध .का विरोध करने मे नैतिक आपत्ति क्या हो सकती है? युद्ध में खर्च भी बहुत अनाप-शनाप होता है।

उदाहरणतः, १९२४-२५ में ग्रेट-ब्रिटेन के युद्ध विभाग का व्यय, जिसमें पिछली लड़ाई के निमित्त तथा आगे की तैयारी के लिए किया जाने वाला व्यय सम्मिलित है, कुल सरकारी खर्च का ६७ प्रतिशत था। ३० जून १९२७ में समाप्त होने वाले वर्ष का संयुक्त राष्ट्र अमेरिका का इसी प्रकार का व्यय ८२ प्रतिशत था। इसका प्रभाव प्रत्येक नागरिक पर पड़ता है। १९३२ में बोस्टन के केम्ब्रिज एसोशिएट्स ने अनुमान लगाया था कि राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक पर शस्त्रास्त्र सम्बंधी वार्षिक व्यय फ्रास में १३ डालर, ब्रिटेन में १२ डालर, इटली में ९ डालर और संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में ६ डालर था। इतना धन यदि जनता के जीवन की उन्नति में लगाया जाता तो कितना लाभ होता? प्रोफेसर बोगर्ट ने अनुमान लगाया है कि पिछले महायुद्ध में सब राष्ट्रों का प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष व्यय ३३७, ९४६, १७९, ६५७ डालर था। लंदन यूनिवर्सिटी के प्रोफेसर बेकर का ख़याल है कि यह धन ब्रिटिश द्वीपों के कुल मानसिक श्रमियों, श्रमजीवियो और कारखानो के बीस वर्ष के श्रम के बराबर है। और युद्ध के जो अन्य परिणाम स्वास्थ्य-हानि, व्यापारिक मन्दी, नैतिक पतन, चिन्ता, रोग आदि हुए उनकी तो गणना ही नहीं है। इन सबको देखते हुए युद्ध जनता के लिए वरदान नही है। यदि यह मान भी लिया जाय कि युद्धों से किसी जनता को कुछ लाभ हुए हैं तो भी उनके साथ उसपर भारी बोझ भी तो पडा है। इसीलिए तो अहिंसक प्रतिरोधी की नहीं किन्तु युद्धों की निन्दा की जानी चाहिए। यह संभव है कि मनुष्य समाज के लिए किसी-न-किसी प्रकार की सरकार आवश्यक होती है, किंतु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि चूंकि सदा से

सरकार हिंसात्मक होती आई है, इसलिए आगे भी वह हिंसात्मक ही रहनी चाहिए ।

अहिंसक प्रतिरोधी भी सरकार की सहायता ही करता रहा है; क्योंकि वह उसका कर-भार वहन करता रहा है, भले ही कर अनुचित प्रतीत हुआ हो। वह खतरे मे डरता भी नही है। हा, खतरे को भड़काने का प्रयत्न नही करता। वह जिस समाज में रहता है उसके व्यय-भार का भाग बर्दाश्त करने को तैयार है, किंतु उसका विश्वास है कि उसे उतने भार के कम कराने का भी अधिकार है, जो युद्धो के कारण होता है। यदि यह कहा जाय कि सैनिक भी तो युद्ध-भार वहन करता है और युद्ध-कार्य में भाग लेता है तो इसका उत्तर यही है कि युद्ध के गुण-दोषों का विवेचन काफी किया जा चुका है, और सिद्ध किया जा चुका है कि अहिसात्मक प्रतिरोध ही श्रेष्ठ मार्ग है। अहिसात्मक प्रतिरोधी समझता है कि यद्यपि सैनिक की लगन प्रशमनीय है, किन्तु उसका मार्ग गलत है। इसी प्रकार जिन लोगो को युद्ध चालू हो जाने के साथ या बाद ही अनुभव हुआ हो कि युद्ध अनुचित है, तो वे भी युद्ध से असहयोग करके कोई अनैतिक कार्य नही करते।

स्वार्थी या गुडे लोगो द्वारा समाज को हानि पहुचाने के लिए सत्याग्रह किये जाने की आशंका भी व्यर्थ है। ऐसे लोग सत्याग्रह करते समय या तो उसके प्रभाव से सुधर जायंगे, या उनकी पोल खुल जायगी और वे अपने-आप असफल हो जायगे।

क्या केवल शिक्षित या पठित लोग ही सत्याग्रह कर सकते है? व्यवहार मे तो ऐसा सिद्ध नही हुआ है। गाधीजी के नेतृत्व में दक्षिण अफ्रीका मे और भारत मे जिन लोगो ने सत्याग्रह मे भाग लिया, वे अधिकांश अपठित किसान ही रहे है। कई शात हडतालो में भाग लेने वाले मजदूर भी अपठित होते है।

क्या अहिसात्मक प्रतिरोध मे डाकुओ को या आक्रमणकारियों को प्रोत्साहन मिलेगा? नहीं। यदि केवल अहिसा या चुपचाप बुराई सहन करने की स्थिति हो तो शायद ऐसा हो भी सके, किंतु अहिंसात्मक-

प्रतिरोध के उचित प्रकार से प्रयुक्त करने पर डाकुओं और आक्रमण-कारियों को प्रोत्साहन नही मिल सकता। वे एक या दो अनुभवों के बाद सावधान हो जायंगे। चंगेजखां आदि लोगों के कत्ले-आम के उदाहरण के होते हुए भी यह बात सत्य है। सरकार और बडे बड़े विजेता दीर्घकालीन अनुशासन-पूर्ण सामूहिक अहिसात्मक प्रतिरोध के मुकाबले में अवश्य असफल होते है।

अहिंसात्मक प्रतिरोधी केवल बातें बनाने वाले नहीं होते। वे सक्रिय व्यावहारिक राजनीतिज्ञ होते है। वे महान उद्देश्यो के नेता और दलितों के उद्धारक होते है। वे ठोस वास्तविकतावादी होते है।

कुछ लोगों का आक्षेप है कि अहिसावादी अपने-आपको बहुत उच्च, पवित्र और पूर्ण समझते हैं और सैनिकों को नीच और पाशविक समझते है। यदि किसी अहिंसक प्रतिरोधी के हृदय में ऐसी भावना होगी तो वह अनुचित होगी। उसका मार्ग कभी सफल नही होगा यदि वह नम्रतापूर्वक दूसरों के विश्वासों की भी कदर न करेगा। फिर भी अहिसक प्रतिरोधियों में से किसी ने कोई गलती की भी हो, तो भी अहिसा मे पवित्रता या उच्चता मानना उतना ही स्वाभाविक है जितना कि किसी भी आदर्श के विषय मे किसी सच्चे विश्वास या श्रद्धा का होना।

अहिसात्मक प्रतिरोध वास्तव में केवल निषेधात्मक (Negative) नही है। समझने की सुगमता के लिए उसका नाम अहिंसात्मक प्रतिरोध ग्रहण किया गया है। गाधीजी ने तो उसका नाम सत्याग्रह या आत्म-बल रखा है। यद्यपि उसमे कभी बहिष्कार या असहयोग का अग भी रहता है, किंतु उसमें स्वदेशी या हाथ के बने माल को प्रोत्साहन आदि अनेक विधायक और उत्पादनात्मक अंग ही प्रमुख है।

कोई कोई लोग कहते है कि विश्व-बन्धुत्व आदि केवल काल्पनिक विचार है। अहिसात्मक प्रतिरोध के कोई ऐसे ठोस वास्तविक प्रमाण नही है, जैसे कि विज्ञान ने एञ्जिन या विद्युत-प्रकाश आदि प्रत्यक्ष बता दिये है । किन्तु ये ठोस वास्तविक वस्तुएं भी तो पहले केवल

कल्पना में ही थीं। कोपरनिकन सिद्धान्त, विद्युत् तरंग-वाद, और फेरेडे, हेनरी, ओहम , एम्पेर, एडीसन, स्टीनमेट्ज आदि के सिद्धात वास्तविक बनने के पहले केवल कल्पना मे थे। रोजर, बेकन, गलिलियो आदि विचारको को मानवजाति ने कितना सताया था। किन्तु बाद मे इनके तत्व सही पाये गए। इसी प्रकार अहिसात्मक प्रति-रोधियों को अभी प्रोत्साहन नही मिल रहा है। यदि इन्हें भी कष्ट पहुचाया गया तो अपने कष्टसहन द्वारा ही ये अपने तत्व की सत्यता सिद्ध कर देंगे।

: १३ :

अहिंसा की तैयारी

अनेक विश्व-शाति-योजनाए ऐसी बनी है जिनमे बताया गया है कि सरकार को, राजनीतिज्ञो को, शिक्षको को, और बैकरो आदि दूसरे व्यक्तियो को अमुक-अमुक कार्य करना चाहिए। किन्तु अहिसात्मक प्रतिरोध ही एक ऐसा उपाय है, जिसको कोई भी व्यक्ति स्वयं किसी-न-किसी अश मे प्रारंभ कर सकता है; उसे दूसरे व्यक्तियों या संगठनो के लिए ठहरने की आवश्यकता नही होती। इसमे साहसी व्यक्तियो को अपनी वीरता दिखाने का पूरा मौका है।

जिस प्रकार का कार्य होता है उसके अनुरूप भावनाओ की वृद्धि करना उसकी तैयारी के लिए आवश्यक होता है। अहिसा की तैयारी के लिए भी कुछ भावनाओं की वृद्धि आवश्यक है। युद्धवादी लोग हिंसावृति बढ़ाने के लिए कहानियो, कविताओ, गायनों, सगीत, कवायद, जुलूसो, रस्म-रिवाजों, प्रदर्शनो, देशभक्ति सम्बन्धी तातीलो, भाषणों, इतिहास-ग्रन्थो, विद्वानो के वाद-विवादो, स्मारकों, चित्रो, झंडो आदि साधनों का प्रयोग करते हैं। हमने अहिसा, चाहे सिद्धान्त के रूप में चाहे नीति के रूप में, स्वीकार की हो, उसपर दृढ़ रहना चाहिए, और तदनुरूप भावनाओ की वृद्धि करना चाहिए। इसके बिना हम

लम्बे संघर्ष में टिक नही सकते, और अपने साधन के दुरुपयोग से बच नही सकते।

अहिंसा-मार्ग के बडे बड़े उपदेशकों और आदर्श पुरुषों ने बताया है कि लोगो के प्रति प्रेम, सत्य के प्रति प्रेम, साहस, धैर्य, सहिष्णुता, आशा, नम्रता, और मनुष्य के सद्गुणों पर विश्वास, ये ऐसे गुण है जो अपने मस्तिष्क और हृदय में हमें बढाने चाहिए और इनका तात्पर्य हमें समझ लेना चाहिए। कुछ महत्वपूर्ण भावनाओं का विवेचन इस अध्याय मे किया जाता है।

प्रेम

इस उद्देश्य के लिए प्रेम सब से प्रमुख भावना है। प्रेम करने का अर्थ है विश्व के सब जीवों और वस्तुओं से आत्मीयता, बन्धुत्व और एकता का अनुभव करना, और इतना गहरा अनुभव करना कि अपने आस-पास के सब लोगों पर भी प्रभाव पडे, चाहे वह प्रभाव कितना ही थोड़ा क्यों न हो, और उन्हें अधिक सुरक्षितता और एकता की प्रतीति हो। प्रेम से सबके कल्याण और उन्नति की भावना उत्पन्न होती है। प्रेम से निर्भीकता, स्पष्टता, स्वतत्रता और सत्यता बढ़ती है। प्रत्येक माता जानती है कि प्रेम देश और काल से सीमित नहीं होता। प्रेम का प्रसार सर्वदेश और सर्वकाल के लिए होता है। प्रेम से हमें अपनी अनन्तता और असीमता का अनुभव होने में सहायता मिलती है। चार्ल्स पीयर्स नामक तत्ववेत्ता लिखते है कि प्रेम द्वारा ऐसी भावना बनाने से कि "घृणायुक्त व्यक्ति में भी अच्छाई और प्रेम के सूक्ष्मांश है, उस व्यक्ति मे जीवन भरा जा सकता है, और उसे अच्छा और प्रेमयुक्त बनाया जा सकता है।" प्रेम में महान उत्पादक-शक्ति है। एक लेखक लिखते हैं, "प्रेम करने, विश्वास करने, और आत्म-प्रतिष्ठा जाग्रत करने मे बड़ी शक्ति है। इसका परिणाम प्रारंभ में चाहे धीरे-धीरे हो किन्तु स्थायी होता है। यह प्रभाव जिस व्यक्ति से प्रेम या विश्वास किया जाता है उसके हृदय और चरित्र में बैठ जाता है।

प्रेम की उत्पादक-शक्ति की क्रिया प्रायः इस प्रकार होती है। जब क ख से उदासीन रहता है, और उसे अचानक मालूम होता है कि ख उसमें प्रेम करता है तो क पहले लज्जित होता है; क्योंकि संभवत· प्रथम प्रेम करने से ख अधिक उदार हुआ है। क ख के प्रेम को ग्रहण करने में लज्जा मानता है। किन्तु जब ख क को अनुभव करवाता है कि उसे उसकी आवश्यकता है, और क को बताता है कि वह ख की किस प्रकार सहायता कर सकता है, और किस प्रकार उसमें उपयोगी योग्यता है, तब क का घमण्ड और हठ मिटने लगता है और वह ख से प्रेम करने लगता है और उसकी सहायता करने लगता है। बहुत ही कम लोग ऐसे होंगे जो केवल दूसरों के प्रेम को ग्रहण करते रहें। उनके चित्त को समाधान तब होता है जब उन्हे यह प्रतीति हो कि वे प्रेम का प्रतिदान कैसे दे सकते है।

अहिंसात्मक प्रतिरोध अनेक व्यक्तियों को इसलिए निर्बल प्रतीत हुआ है कि उसके अनुयायियो ने प्रेम की उत्पादक शक्ति को पूरी तरह नही समझा और पूरी तरह प्रयुक्त नही किया। गणित शास्त्रज्ञ ग्राट्री और बूले ने प्रेम की इस क्रिया का ध्यानपूर्वक अध्ययन किया है और समर्थन किया है। श्री सी. एफ. एण्ड्रयूज का अनुमान है कि आत्मीयता और एकता की भावना के ही कारण संसार मे इस्लाम और बुद्ध धर्म का प्रचार हुआ। फ्रान्स की क्राति की कार्यशक्ति और प्रजातन्त्रवाद के विस्तार का भी यही कारण था। रूस में कम्यूनिज्म की कार्यशक्ति का कारण भी निस्सन्देह आत्मीयता और एकता की भावना है।

शक्ति-प्रयोग सम्बन्धी इञ्जीनियरिंग-कला को हमे मनुष्य–समाज पर भी लागू करना चाहिए। मनुष्य के स्वभाव और समाज में अपार शक्ति भरी हुई है। इसको क्रोध आदि के रूप मे फूट पड़ने से रोकना चाहिए और प्रेम की प्रणाली द्वारा उपयोगी कार्यों मे लगाना चाहिए। यह ठीक ऐसी ही बात है जैसी कि हम भाप की शक्ति को फूट पड़ने और बायलर और अन्य वस्तुओं को तोड़-फोड़ देने से रोकते है और

स्टील एञ्जिन या टरबाइन द्वारा उस शक्ति को उपयोगी कार्यों में प्रयुक्त करते है।

प्रेम में अपार शक्ति है। किसी ने कहा है कि प्रत्येक सद्गुण आवेशात्मक होना चाहिए, अर्थात् क्रियाशीलता से लबालब भरा होना चाहिए। हमारे प्रेम का प्याला भी इसी प्रकार लबालब भरा हुआ होना चाहिए। विलियम ब्लेक ने कहा है कि शक्ति एक दिव्य वस्तु है। प्रेम की शक्ति को हमें ठीक साधनों से ठीक दिशा में लगाना चाहिये।

यह एकता-भावना ही व्यक्तिगत मनुष्य-जीवन और सामूहिक तथा राष्ट्रीय जीवन का मूल है। इसीलिए कहा है कि 'जो तोकू काँटा बुवै, ताहि बोइ तू फूल।'

कई लोग विश्वास करते हैं कि हम सबसे प्रेम नहीं कर सकते। यदि हम कहें कि हम सबसे प्रेम करते है तो यह पाखण्ड होगा। यदि हम देश-काल के भेदो मे बंध कर, इन्द्रियों और अन्तःकरण को बाह्य रूप से प्रतीत होनेवाली नानात्व की धारणाओं को मानेंगे, तो शायद यह ठीक हो। किन्तु हमें तो समस्त जीवों की एकता और देशकाल के भेद से परे आत्मा के स्वरूप की भावना रखनी चाहिए। उस आत्मा की अभिव्यक्ति भले ही कितनी ही अपूर्ण और दोषावरण युक्त क्यों न हो, फिर भी हम सबसे प्रेम कर सकते हैं। हम मनुष्य की असली आत्मा की ओर हमें बुरे लगने वाले उसके बाह्य आवरणों गंदगी, रोग, दुष्प्रवृत्ति, आदर्शभेद, रुचिभेद, जातिभेद, और ऐतिहासिक भेद, आदि— भिन्नता को समझ सकते हे। हम उसका अन्तरात्मा से प्रेम करते हैं जो कि हमारी अन्तरात्मा के ही समान है। मनुष्यों के दोषों का यदि हम सूक्ष्मता से विश्लेषण करेंगे तो हमें उन दोषों के मूल कारण भी प्रतीत हो जायंगे। फिर तो हमें रोगों की चिकित्सा की भांति उन मनुष्यों की चिकित्सा की आवश्यकता प्रतीत होगी और उनके प्रति प्रेम ही बढ़ेगा।

दया और सहानुभूति

प्रेम से ही सम्बन्ध रखने वाली भावनाएँ दया और सहानुभूति हैं। कष्टों के प्रति दया अच्छी बात है। दया से मनुष्य की एकता और बन्धुत्व होता है। किन्तु, यदि दया एक उच्चता की भावना या सहानुभूतिपूर्ण चिन्ता का रूप ग्रहण कर ले तो हानिकारक भी है। इससे दोनों पक्षों को ही हानि होती है। इसीलिए नीत्शे ने दया की कड़ी निन्दा की है। दया ऐसी न होनी चाहिए कि उससे यह मानव-जीवन ही दुखपूर्ण दृष्टिगोचर होने लगे। जिन लोगों पर दया की जाय, उनमें अपनी दयनीयता की भावना उत्पन्न न होनी चाहिए। दया करने वालों में अभिमान-भावना न होनी चाहिए। सच्ची सहानुभूति तो व्यक्ति को स्वयं-समर्थ बना देना ही है। संभवतः दया के स्थान पर मित्रता शब्द अधिक उपयुक्त होगा।

सहिष्णुता

पाश्चात्य मस्तिष्क पूर्वीय देशों या मध्य युरोपियन काल की भांति कष्ट-सहिष्णुता के महत्व को स्वीकार नहीं करता ; क्योंकि इससे समाज की या तो कोई विसंगतता या अपूर्णता प्रकट होती है जिससे कि पश्चिम-निवासी निरंतर संघर्ष करता रहता है, या इससे आत्म-दया या आत्म-श्लाघा उत्पन्न हो जाती है। किन्तु किसी आर्थिक, राजनीतिक या व्यक्तिगत परिस्थिति में कोई वाछनीय परिवर्तन कराने के लिए स्वेच्छा-पूर्ण कष्ट-सहन सदा आवश्यक होता है। यदि कोई व्यक्ति किसी स्थिति का सुधार करना चाहेगा, और उसके यत्न के मार्ग में आने वाले कष्टों से बचेगा, तो स्थिति सुधर नहीं सकेगी। सुधार की कीमत तो चुकानी ही पड़ेगी। किन्तु कष्ट-सहन तो मुख्य उद्देश्य का एक आनुषंगिक और गौण अंग है। मुख्य उद्देश्य को भुला कर केवल गौण अंग पर जोर देना हानिकारक बात होगी। लोगों पर उद्देश्य की सत्यता और न्याय्यता की छाप बिठानी चाहिए न कि कष्ट-सहन की। जो लोग कष्ट-सहन पर अधिक ध्यान आकर्षित करेंगे वे सबको गलत रास्ते पर ले जायँगे। धनवान आदमी गरीब को भीख दे देता है, किन्तु इससे स्थिति का मूल

कारण सुधर नहीं सकता। लोग भी तात्कालिक कष्टों को मिटा सकते हैं, किंतु इससे मूलभूत उद्देश्य सिद्ध नहीं होता। कष्ट-सहन पर जोर देने से सहिष्णु व्यक्ति में विफलता और आत्मदया की भावना उत्पन्न होती है।

किंतु इस विषय में पूर्वीय भावना भी बिल्कुल गलत नही है। संसार में नई धारणाओं को उत्पन्न करने के लिए कष्ट-सहन आवश्यक है। यह भावी सफलता का चिन्ह है। मानव-समाज एक ही शरीर के समान है, और सामाजिक, आर्थिक, और राजनीतिक भूलों का कुपरिणाम सबको सहन करना ही पडता है। गलतियों के बाद कष्ट सहें इससे तो अच्छा है कि हम उनके पहले ही कष्ट सहन करले। कष्ट-सहन जब संसार में अनिवार्य ही है, और मृत्यु और दु.ख से कोई बच नही सकता तो इस कष्ट-सहन का भी कोई सदुपयोग क्यों न किया जाय? जो लोग आध्यात्मिकता को मानते है, उन्हें प्रतीत होगा कि संभवतः इस मार्ग से हम अपनी अन्तरात्मा से या ईश्वर से बल प्राप्त करने का यत्न करेंगे, और उसके अधिक समीप पहुचेंगे।

नम्रता

नम्रता की भावना के विषय में पाश्चात्य लोगों में बड़ा भ्रम है। वे नम्रता को कमजोरी, कायरता और स्वाभिमानशून्यता समझते हैं और उससे घृणा करते हैं। उनका खयाल है कि इससे परिस्थिति को सहन करने की आदत बढती है और प्रगति रुकती है। किन्तु हम बता चुके है कि नम्रता वास्तव मे वस्तुओ और धारणाओं का यथार्थ अनुपात है। इसीलिए अहिसात्मक प्रतिरोध में इस भावना का महत्व है।

नम्रता का अर्थ हीनता नही है किन्तु आत्मिक समानता है। नम्रता का अर्थ यह है कि भौतिक बड़प्पन, वर्गश्रेष्ठता, कुलीनता, धन और पदवियो का महत्व आध्यात्मिक दृष्टि से कुछ भी नही है। यश और कीर्ति की आकाक्षा आध्यात्मिक दृष्टि से हानिकारक है। जो व्यक्ति ईश्वर में और मनुष्यो की आत्मिक समानता में विश्वास करेगा वह अवश्य नम्र होगा। नम्रता वास्तव में सच्ची वैज्ञानिक भावना है;

क्योंकि जो नम्र होगा उसमें अभिमान न होगा। वह किसी भी छोटे-से-छोटे व्यक्ति या तथ्य से कुछ-न-कुछ सीखने का यत्न करेगा। वह सत्य का सच्चा पुजारी होगा और अपने दोषों और भूलों को भी समझने और सुधारने के लिए तैयार रहेगा ; क्योंकि वह समझेगा कि मैं भी मनुष्य हूं, और मुझसे भी भूल होना सभव है। नम्रता का अर्थ स्वाभिमान-शून्यता नही है, किन्तु सच्चा स्वाभिमान है।

अपरिग्रह

चूंकि प्राय स्वार्थ, भय, क्रोध और सघर्ष का कारण सम्पत्ति होता हैं, इसलिए सत्याग्रही को अपने भीतर सम्पत्ति के विषय मे ऐसी अनासक्ति उत्पन्न करनी चाहिए जो प्रेम और विश्वबन्धुत्व की दृष्टि के अनुरूप हो।

जब भावनाओ के आदर्श चित्त मे जम जाते है तो धारणाएं बन जाती है। धारणाओं मे ही राष्ट्रो का भविष्य बनता है । यदि अहिसात्मक प्रतिरोध के अनुकूल धारणाये बनेंगी तो एक अधिक उच्च और अधिक सुखी मानव-समाज का निर्माण हो सकेगा। इन उपर्युक्त वाछनीय भावनाओ पर प्रतिदिन और प्रति घडी व्यवहार भी करना चाहिए । व्यवहार और कार्य करने से ही सच्ची समझ और विश्वास उत्पन्न होता है।

: १४ :

कुछ अधिक विवेचन

पिछले अध्याय मे कुछ ऐसी भावनाओ का विवेचन किया गया है जिनकी हमे वृद्धि करनी चाहिए। कुछ अन्य ऐसी भावनाओं का विवेचन इस अध्याय में किया जायगा, जिनसे हमें बचना चाहिए ; क्योकि इनसे हिसा की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है । ऐसी भावनाएं हैं घृणा, कटुता, ईर्षा और लोभ। इनसे जो हानियां होती हैं उनसे सभी लोग परिचित है, इसलिए इनके विषय में विस्तार से लिखने की

आवश्यकता नहीं है। किन्तु एक भावना ऐसी है जिसके विषय में शंका हो सकती है । वह है नैतिक रोष या धार्मिक रोष, अर्थात पीड़ित की सहानुभूति में पीड़क के प्रति उत्पन्न होने वाला रोष।

हमारे विचारानुसार नैतिक रोष भी एक प्रकार का क्रोध है और हानिकारक है । अपेक्षाकृत अधिक सुरक्षितता के कारण नैतिक रोष करना सरल होता है ; क्योंकि रोष करने वाला प्रायः स्वयं लड़ाई से बाहर रहता है और केवल अपरिणामकारी विरोध प्रगट करके ही रह जाता है। यदि उस पर पीडक का क्रोध उमड़ आए कि वह उसपर भी आक्रमण कर दे, तो यह रोष सामान्य क्रोध या भय में परिवर्तित हो जाता है । हम विवेचन कर चुके है कि क्रोध की शक्ति का उपयोग करने की अपेक्षा प्रेम की उत्पादक शक्ति का उपयोग करना ही श्रेष्ठ है, और अच्छे उद्देश्य के लिए भी बुरे साधन का प्रयोग न करना चाहिए। ऐसी स्थिति में नैतिक रोष का उपयोग भी अनुचित है।

नैतिक रोष में भी एक प्रकार की उच्चता की भावना रहती है जिससे मनुष्य का पतन होता है । भगवत्‌गीता और लाओत्सू के उपदेशों में रोष और क्रोध से बचने का उपदेश है।

नैतिक रोष करने का अधिकार जैसे कुछ उच्च शिक्षित लोगों का माना जायगा, वैसे ही एक भीड़ का भी मानना पड़ेगा। और यदि भीड़ रोष करने लगेगी तो परिणाम हिंसात्मक ही होगा। इसलिए यह मार्ग त्यागने योग्य ही है।

कुछ लोगों का कहना है कि हमें सत्य और असत्य दोनों में से किसी-न-किसी का पक्ष अवश्य लेना चाहिए। हमें अन्याय की निन्दा अवश्य करनी चाहिए जब अन्याय हो रहा हो तो हमें चुपचाप तटस्थ न बैठना चाहिए। क्या विरोधी आलोचना करना अनुचित है ? यह सही है कि हम सत्य और असत्य का विवेक किये बिना नहीं रह सकते। किन्तु प्रायः धारणायें मनुष्यों के साथ जुड़ी हुई रहती है, और बुरी धारणाओं की निन्दा करने में हम बुरी धारणा

वाले मनुष्यों की भी निन्दा मे पड़ कसते हैं। हमें तो बुराई की निन्दा करने की अपेक्षा भलाई की इच्छा पर अधिक जोर देना चाहिए। जैसा कि नीत्शे ने कहा है कि अपने विरोधी को परास्त करने का मार्ग है उससे अधिक उत्कृष्ट बनना। भगवद्गीता मे भी निन्दावृत्ति से बचने का उपदेश है।

आधुनिक मानसिक विश्लेषण-शास्त्र के अनुसार प्रतीत होता है कि जब हम दूसरे व्यक्ति के विरुद्ध तीव्र घृणा प्रगट करते है तो उसका अर्थ है कि जिस दोष के प्रति मुझे नफ़रत है वह पहले मुझमे था, या अब भी मेरे अजाग्रत मन मे वह छिपा हुआ है। मेरा विरोध वास्तव मे इस दोष से स्वय बचने का मेरा आन्तरिक प्रयत्न है? यदि उस दोष का मुझे भय न होता तो मै उसके प्रति अधिक गभीर और अनासक्त रहता। इस प्रकार जब हम दूसरे व्यक्ति की तीव्र निन्दा करते है तो वास्तव मे हम अपनी आन्तरिक वृत्ति की ही निन्दा करते है। दूसरे की निन्दा करने से विभेद-भावना बढती है जो एकता मे बाधक होती है। इसलिए अधिक बुद्धिमत्ता इसी मे है कि हम स्वय अपना-अपना निरीक्षण करे, और अपने दोषो को दूर करने का यत्न करे। मुझे निश्चय हो सकता है कि मुझ मे ही इतने दोष है कि यदि मै केवल अपने सुधार में ही लगा रहूं तो भी मुझे फुरसत न मिलेगी। मैं दूसरे व्यक्ति को अपने उदाहरण से अधिक सुधार सकूगा, किन्तु निन्दा करने से तो कोई लाभ न होगा। हमे तो अपने भीतर के असत्य और अन्याय को ही हटाना चाहिए।

ऐसे कार्यो, सस्थाओं, परिस्थितियो और प्रणालियो की आलोचना करते समय, जिनमे कि दोष या गलतिया हो, वर्णन बिलकुल सत्य और सही होना चाहिए। कुछ सज्ञाओ और विशेषणो का प्रयोग प्रसन्नता उत्पन्न करने वाला नही होता। ऐसा वर्णन करना कठिन कार्य हो सकता है, किन्तु उसमे व्यक्तिगत दुर्भावना बिलकुल न होनी चाहिए। व्यक्तिगत हैसियत से व्यक्तियो की बुराई करने से प्रायः कोई उपयोग या लाभ नहीं होता। कभी-कभी बुराई प्रकट करने के लिए वस्तुस्थिति

का जोरदार वर्णन आवश्यक होता है, किन्तु यह ऐसा न होना चाहिए कि जिससे व्यक्तिगत भय या क्रोध उत्पन्न हो। बुराई को उखाड़ फेंकने में समय लगाने के बजाय अच्छाई की शक्तियों को ही जाग्रत करने में समय लगाना चाहिए, जिससे कि अच्छाई ही इतनी प्रबल हो जाय कि बुराई महत्वशून्य हो जाय। इसमें अधीर होने की आवश्यकता नहीं है। अधिक समय लगकर भी स्थायी कार्य होना अच्छा है। मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि मन की भावनाओं को दबाया जाय, किन्तु उनको उदात्त बनाया जाय।

गांधीजी प्रेम से सत्य को इसलिए अधिक महत्वपूर्ण समझते हैं कि सत्य तो देश और काल से अबाधित और असीमित है और प्रेम तो सीमित जीवों में ही होता है। फिर भी सत्य को प्राप्त करने का सर्वोत्तम मार्ग प्रेम ही है। एक पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक ई० बी० होल्ट ने भी गांधीजी के समान ही विचार प्रकट किये हैं।

चूंकि सचाई इतना महत्वपूर्ण गुण है, इसलिए विचार और व्यवहार की एकता भी आवश्यक है। अहिंसात्मक प्रतिरोध मुख्यतः आन्तरिक प्रवृत्ति है, इसलिए उसके लिए बाह्य व्यवहार के कोई एकान्तिक नियम नहीं बनाये जा सकते हैं। फिर भी वे सामान्यतः ठीक ही होंगे।

व्यवहार या कार्य यदि उचित इच्छा, मनोवृत्ति और मार्ग द्वारा किये जायं, तो उनसे उनके अनुरूप हृदय-प्रवृत्तियां या गुण दृढ़ होते हैं। इसलिए भी धर्मों में नित्य और नैतिक कार्यों का विधान किया गया है। किन्तु व्यवहार या कार्य से आन्तरिक वृत्तियों का भी पता लगता है। व्यवहार विचार और इच्छा की पूर्णता है। जब तक व्यवहार नहीं होता, बाहर वालों को या विचारकों को भी वह विचार और उद्देश्य पूर्णतः समझ में नहीं आता। चरित्र की पूर्णता के लिए व्यवहार आवश्यक है। हमारे विचार, अनुभूतियां और भावनाएं ही परिपक्व हो कर व्यवहार में परिणत होते हैं। हम अपने शरीरों द्वारा भी विचार करते हैं और मन द्वारा भी। जीवन में यदि हम व्यवहार, विचार और

भावना में अधिक विभेद करेगे तो हानि होगी। इसीलिए अहिंसा-त्मक प्रतिरोध की सफलता के लिए उचित प्रकार की भावनाओ को विकसित करना आवश्यक है।

कोई-कोई व्यक्ति संसार मे अधिक बुद्धिमान होते है। वे किसी विषय को अधिक जल्दी और अच्छी तरह समझ लेते है, और संभवतः अधिक सफलता से उसका उपयोग भी कर सकते हैं। ये लोग बुद्धिमान होने के अतिरिक्त ईश्वर और आत्मा मे भी विश्वास करने वाले होते है। अहिंसात्मक प्रतिरोध के बडे-बडे प्रचारक—पार्श्वनाथ, बुद्ध, महा-वीर, लाओजे, ईसामसीह, टारसस के पॉल, हीटर वाल्डो, वाइक्लिफ, एसीसी के फ्रेसिस, हुस, मेनो साइमन्स, जार्ज फॉक्स, विलियम पेन, थोरो, टाल्स्टॉय और गाधी—आदि सभी अत्यन्त धार्मिक या देशकालाबद्ध अगोचर एक सत्य तत्व के विश्वासी रहे है। जो लोग ईश्वर मे विश्वास करते हैं वे अहिंसात्मक प्रतिरोध का सिद्धान्त जल्दी समझ लेते हैं; क्योकि वे एक सर्वोपरि सत्ता, केन्द्रीय एकीकरण करने वाले सिद्धान्त को मानते हैं, जो कि अहिंसात्मक प्रतिरोध का मूलाधार है।

गाधीजी चाहते है कि अहिंसात्मक प्रतिरोध के मुख्य नेता तो कम-से कम धार्मिक वृत्ति के लोग ही होने चाहिए। धार्मिक से तात्पर्य मंदिर, मस्जिद या गिरजा में जानेवाले रूढिवादियो से नही है। जो लोग ईश्वर मे विश्वास न करते हो किन्तु जिनमे सत्य की सच्ची इच्छा और लगन हो, और जनता के कल्याण की कामना हो वे भी इस अहिंसा-त्मक प्रतिरोध का नेतृत्व कर सकते है यदि वे इस तत्व को समझकर इस पर श्रद्धा करने लगे। सत्य तो ईश्वर का ही दूसरा नाम है। इस धर्म के विषय में नास्तिकता-वादी या अज्ञेयता-वादी को सिर्फ इस कारण कट्टरता रखकर मानवीय शक्तियों से इनकार न करना चाहिए कि उन शक्तियो के अनुभव और प्रयोग करनेवाले लोगों ने कोई ऐसे शब्द-प्रयोग किये है जिन पर वे विश्वास नही करते—उदाहरणतः आन्तरिक-प्रेरणा, आध्यात्मिकता आदि। यह इनकार करना ऐसी ही बात होगी जैसी कि एक शताब्दि पहले के वैज्ञानिकों का कहना कि रेडियो-तरंगों,

एक्स किरणों या वायुयानों का होना ही असम्भव है। इसी प्रकार धार्मिक लोगों को भी इतना कट्टर न होना चाहिए कि वे उनके मतानुसार धर्म पर श्रद्धा न रखने वालों को ही अहिंसात्मक प्रतिरोध में भाग लेने या नेतृत्व करने से वंचित कर दें। शब्दों या नामों से काम अधिक महत्व रखता है।

यदि संसार में जीवन की घटनाओं को केवल आध्यात्मिक अनुशीलन की सामग्री माना जाय, तो मृत्यु इतनी बुरी और हानिकारक घटना नही है जितनी कि मानी जाती है। और अर्जुन के प्रति कृष्ण के कथन के अनुसार हनन भी मूलतः महत्वपूर्ण नही है। किंतु अधिक महत्व इसका है कि ऐसे कार्य का प्रभाव हन्ता पर, हत पर और अन्य व्यक्तियों पर क्या पड़ता है। हिंसा से मुख्य हानि यह होती है कि उससे जो क्रोध, भय आदि उत्पन्न होते है उनसे, यदि सब में नही तो अधिकांश सम्बन्धित पक्षों मे विश्व-आत्मीयता या विश्व-एकता की अनुभूति में बाधा पड़ती है। यदि जीवन का उद्देश्य हिन्दुओ के कथनानुसार 'आत्म-साक्षात्कार' है तो ऐसी अनुभूति के लिए हिंसा हानिकारक है। संभव है कि किसी-किसी पागल या विक्षिप्त व्यक्ति में विभेद-भावना इतनी पूर्ण हो कि उस पर अपराध रोकने के लिए किये जाने वाले बल-प्रयोग के कारण अधिक विभेद उत्पन्न न होगा। ऐसी स्थिति मे यदि क्रोध-रहित होकर, और मित्रता और सहानुभूतिपूर्वक शारीरिक बल लगाया जाय तो वह उचित प्रतीत होगा। हम बिलकुल एकान्तवादी नहीं हो सकते किन्तु इसमें हमें सावधान रहना चाहिए कि हम अपने-आपको धोखा तो नहीं देते हैं।

यह भी संभव है कि दो स्वस्थ मस्तिष्क व्यक्तियों के बीच पूर्णतः संरक्षणात्मक शारीरिक लड़ाई होना अशक्य है। एक व्यक्ति पूर्णतः निर्दोष और दूसरा व्यक्ति पूर्णतः दोषी और आक्रामक नहीं हो सकता। संसार में सब व्यक्तियों की जो दुर्दशा, गरीबी और कठिनाइया हैं क्या उनके लिए हम पर कोई उत्तरदायित्व नहीं है? उनमें जो द्वेष, लोभ, संकीर्णता, स्वार्थपरायणता, असंयम, कटुता आदि वृत्तिया हैं, क्या

उनके लिए हम भी जिम्मेदार नहीं हैं? क्या हम ऐसी अनेक संस्थाओं, प्रथाओं, और प्रणालियो के समर्थक या चुपचाप सहन करने वाले नही हैं जिनसे दूसरो को हानि पहुचती है ? दो आदमियों में यदि लड़ाई होती है तो उनके चित्तो मे बडी सूक्ष्मता से एक दूसरे के विरुद्ध भावनाए उत्पन्न होती है और उनका 'घात-प्रतिघात होता है। वास्तव में विभेद-मात्र या पार्थक्य-मात्र की भावना का ग्रहण कर लेना ही आक्रामकता का प्रारम्भ है । इसलिए मन वचन कर्म से मानवीय एकता की भावना रखना ही ऐसी मरक्षकता है जिसमें आक्रामकता नही है।

मेरे विचारानुसार हिसा की परिभाषा यह है—जिस कार्य, इरादे, विचार, सक्रिय अनुभूति, या बहिर्मुख वृत्ति का स्वरूप या परिणाम भावावेशो या आन्तरिक वृत्तियो पर विभेदकारी हो, अर्थात् आत्मिक एकता से असगत हो, वह हिसा है।

उपर्युक्त कारणो से, और विशेषत. विचार और व्यवहार की एकता की आवश्यकता से, हम यह तो नही कह सकते कि अहिंसात्मक प्रतिरोध सदा ही उचित होता है, किन्तु यह कह सकते है कि यदि आवश्यक साहस, प्रेम, अनुशासन, ज्ञान और श्रद्धा हो तो सदा उसके उचित होने की सभावना होती है। हमको अपने प्रति सदा ही ईमानदार रहना चाहिए।

इसका तात्पर्य यह नही है कि चूकि अधिकांश लोग हिंसा में ही अधिक विश्वास करते हैं इसलिए उन्हे हिसा का ही प्रयोग करते जाना चाहिए और लडते जाना चाहिए। एक समय था जब सब सैनिक केवल तलवारों और भालों से ही लड़ते थे, किंतु बन्दूक के अविष्कार के बाद उन्होंने उसको सीखने से, इनकार नहीं किया। इसी तरह अब अहिंसात्मक प्रतिरोध के रूप में एक अधिक अच्छा शस्त्र आविष्कृत होगया है । इसे सीखना चाहिए और दूसरो को भी सिखा देना चाहिए।

सत्य ही सर्वोत्तम आदर्श है, इसीलिए सत्याग्रह ग्रहण करके हमें मानव-जाति की एकता का अनुभव करना चाहिए। धार्मिक ऋषियों ने अपने भीतर बैठे हुए परमात्मा का साक्षात्कार करने के लिए अनेक

नियम और रीतियां बताई है। दूसरे के भीतर निवास करने वाले पर-मात्मा को प्रकाशित करने या उसके दर्शन करने का एक मार्ग अहिंसा है।

: १५ :

आत्म - निग्रह

अहिसात्मक प्रतिरोध की तैयारी के लिए आवश्यक भावनाओं को बढाना ही काफी नही है, किन्तु प्रति दिन आत्म-निग्रह और विचारों, शब्दों और छोटे-छोटे व्यवहारों का नियन्त्रण भी करना चाहिए। हम सब कोई न कोई आदत या अभ्यास किसी न किसी प्रकार बनाते ही रहते हैं। इसलिए हम अपनी आदतें ज्ञानपूर्वक और सर्वोच्च सिद्धान्तों के अनुसार ही क्यों न बनाये ? इस प्रकार आत्म-निग्रह का शिक्षण पाकर प्रत्येक व्यक्ति अपने देश की सेवा सेना में भर्ती होने की अपेक्षा अधिक कर सकता है। हम कह चुके है कि हमारे समाज की बुराइया तथा राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय बुराइया तो हमारे आन्तरिक मानसिक और आध्यात्मिक दोषो के बाह्य परिणाम या प्रतिबिम्ब हैं। वास्तविक बुराई और हमारा असली शत्रु तो हमारे भीतर निवास करता है। हमें अपने हृदय की संग्राम-भूमि में कितनी ही बार पराजय क्यों न मिले किंतु बाहर की अपेक्षा वहा हमे कार्य करने और निमार्ण करने की अधिक स्वतन्त्रता है। शान्ति-आन्दोलन वास्तव मे हमे वहां ही प्रारम्भ करना चाहिए। वहां शान्ति-प्रयत्न के लिए नोबेल पुरस्कार तो नहीं मिलता, किंतु यदि कोई व्यक्ति मफल हो सके तो उसे अत्यधिक मूल्य-वान उत्पादक शक्ति और आन्तरिक दैवी सम्पत्ति प्राप्त हो सकती है। जो कोई व्यक्ति अहिसात्मक प्रतिरोध का नेतृत्व करना चाहता है उसे पहले उसका प्रयोग अपने ही ऊपर करना चाहिए और अपने-आप पर निग्रह प्राप्त कर लेना चाहिए।

युद्ध और विद्वेष का खूब प्रचार हो जाने पर भी सर्वत्र, सब प्रकार के मनुष्यों में सब राष्ट्रों में, सहानुभूति, उदारता और सद्भावना का

अपरिमित भण्डार भरा हुआ है, जिसे केवल मार्ग और साधन बता कर जाग्रत कर देने की आवश्यकता है, जिसमे कि उसका उपयोग उत्कृष्टतर ससार के निर्माण के लिए किया जा सके। यदि लोग सद्-भावना उत्पन्न करने के लिए उचित साधन आविष्कृत कर सके, तो वे आश्चर्यजनक शीघ्रता से आगे प्रगति कर सकते है। शक्ति तो मौजूद है, केवल एक एजिन की कसर है। वह चिर-प्रतीक्षित साधन अहिसात्मक प्रतिरोध ही है।

शान्ति-सगठन के कार्य मे अभी तो हम बिलकुल ही प्रारंभिक स्थिति में है, वैसे ही जैसे कि कई युग पहले मानवजाति थी जब कि सैनिक सगठन का सबसे पहले प्रारंभ और प्रयोग किया गया था। भविष्य में शान्ति की प्रगति के लिए अनेक समस्याए खड़ी होगी और उन्हें हल करना होगा।

जिस प्रकार सैनिक व्यक्तियों या समूहों को शिक्षण देकर तैयार करना पडता है, उसी प्रकार अहिसात्मक प्रतिरोध मे भी व्यक्तियों और समूहो को तैयार करना पडता है। कहते है कि एक अच्छे सैनिक के निर्माण मे चार वर्ष लगते है। हमे भी उतना ही समय लगाना चाहिए, उतना ही ध्यान देना चाहिए और अहिसात्मक प्रतिरोध के उपयुक्त नई आदते और नये प्रकार का आत्म-निग्रह उत्पन्न करने के लिए उतनी ही दैनिक कवायद करनी चाहिए, जितनी कि एक सैनिक अपने लक्ष्य के लिए करता है। इसके लिए जो विवेचन पिछले अध्यायो में किया जा चुका है, उसके अतिरिक्त कुछ सूचनाए नीचे दी जाती है।

जब किसी मनुष्य को क्रोध या भय का कोई अनुभव हो, किंतु उसके बाह्य प्रदर्शन का नियन्त्रण वह कर सकता हो, तो उसे शीघ्र उस स्थान से हटकर तुरत कोई तेज शारीरिक व्यायाम का कार्य करना चाहिए—जैसे लकडी चीरना, तेजी से भ्रमण करना आदि। इससे भावावेश द्वारा रक्त मे बढी हुई शकर की मात्रा काम में आ जायगी और पुनः सौम्यता और प्रसन्नचित्तता प्राप्त हो जायगी। क्रोध के समय कभी पत्र न लिखना चाहिए।

यदि क्रोध किसी व्यक्ति के कारण उत्पन्न हुआ हो तो, व्यायाम के समय या बाद में, विचार करना चाहिए, यह नहीं कि विरोधी के क्या-क्या दोष है, या मेरे क्या-क्या अधिकार है, किंतु यह कि "मैं उसकी सद्वृतियों को कैसे जाग्रत कर सकता हूं, और किस प्रकार मैं उसके व्यक्तित्व की निन्दा करने से बच सकता हू।"

कठिन परिस्थितियों का मुकाबला करने के लिए यह उपयोगी होगा कि अपने मन मे हम पहले ही से अनेक कठिन परिस्थितियो की कल्पना कर लें और फिर यह भी सोच लें कि प्रत्येक परिस्थिति में बिना भय या क्रोध के हमे कैसा व्यवहार करना उचित होगा। केवल बड़ी हिंसा-पूर्ण या बड़ी महत्वपूर्ण परिस्थितियो की ही कल्पना न करनी चाहिए। हमें प्राय होनेवाली छोटी-छोटी घटनाओं की भी कल्पना करनी चाहिए जिनमे चिड़चिड़ाहट, रोष, चिन्ता या भय उत्पन्न हो जाता है। यह भी उपयोगी होगा कि जब कभी मन मे कोई क्रोध या भय का भाव उत्पन्न हो तो रुक कर सोचना चाहिए कि इसका कारण क्या है, हमें किस वस्तु के खोने या गंवाने की आशका है; क्योंकि किसी-न-किसी वस्तु के खोने या गवाने की आशका से ही क्रोध या भय उत्पन्न होता है। फिर यह सोचना चाहिए कि जिस वस्तु के खोजाने की आशंका है क्या वह सचमुच महत्वपूर्ण है, क्या आध्यात्मिक दृष्टि से भी सचमुच उसका कोई महत्व है, आदि। इस प्रकार क्रोध या भय की भावना मिट जायगी या कम हो जायगी।

यदि किमी की स्वार्थपरायणता, अविचारशीलता या धोखेबाजी के कारण भावावेश हुआ हो, तो हमें सोचना चाहिए कि कमसे-कम हमे तो विश्व-आत्मीयता का भाव न छोड़ना चाहिए, भले ही दूसरे व्यक्ति का पतन हो गया हो। हमें उस व्यक्ति के उद्धार का भी यत्न करना चाहिए और अपने को भी गिरने न देना चाहिए।

अधीरता भय का ही एक रूप है, और उससे भी क्रोध उत्पन्न होने लगता है। हमे कार्यकुशल होना चाहिए, और समय की बचत करना चाहिए, और इसी की प्रेरणा दूसरों को भी देनी चाहिए। किन्तु हमें

समय को अधिक महत्व भी न देना चाहिए। यदि बाधा आ जाय तो उससे बचने की योजना सोचनी चाहिए, और यदि बाधा ऐसी हो कि हट ही न सके, तो बिल्कुल दूसरे ही काम मे लग जाना चाहिए या उस घटना पर जीवन के व्यापक से व्यापक पहलुओं की दृष्टि से चिन्तन करना चाहिए।

यदि कभी कोई कठोर सत्य कहने की आवश्यकता प्रतीत हो, और परिस्थिति ऐसी हो कि यदि उसको बहुत कुशलतापूर्वक न कहा जाय तो क्रोध, भय या दुर्भावना उत्पन्न होने की आशका हो, तो ऐसी स्थिति मे यह अनुभव करना चाहिए कि कठोरता या उजड्डपन क्यों बुरा है। कठोरता या उजड्डपन के साथ कहा हुआ सत्य भी असत्य या अर्धसत्य बन जाता है; क्योकि उसमे विश्व-एकता के महान सत्य का अभाव रहता है।

मन वचन और कर्म में सत्यता की बडी आवश्यकता है। दूसरों के प्रति होने वाले व्यवहारो में छिपाने, बचाने, छल करने या गुप्तता रखने का प्रयत्न न करना चाहिए।

निर्भीकता उत्पन्न करने का विशेष यत्न करना चाहिए। इसके लिए सर्व-आत्मैक्य की भावना का चिन्तन नित्यप्रति नियमित रूप से करना चाहिए। जो सब मे एक आत्मा का दर्शन करेगा वह निर्भय हो जायगा। अपने निकट और अपने अन्दर ईश्वर की उपस्थिति की भावना से भी कुछ लोगो मे निर्भीकता आ सकती है।

इसी दिशा मे बच्चो को भी शिक्षण देने की आवश्यकता है, जिससे कि वे भी भय और क्रोध का निग्रह करना सीखे। बच्चे अधिकाशत. अपने माता-पिताओ या शिक्षको के अनुकरण से सीखते है, इसलिए पहले तो इन्हे ही अपना आचरण ज्ञानपूर्वक सुधारना चाहिए। अनेक प्रकार के खेल या साहसपूर्ण कार्य ऐसे हो सकते है जिनमें फुर्ती, चतुराई और कुशलता आवश्यक होती है और जिनके द्वारा स्थिति का बिना घबराये मुकाबला करने की बुद्धि और प्रत्युत्पन्न मति जाग्रत होती है– खेलो में बचकर निकलना, पेड़ो पर चढ़ना, घोड़ा दौड़ाना, सायकल या मोटर

या नाव चलाना और कठिनाइयों में से निकालना, बाल-चर कार्य, पहाडों पर चढना आदि। इनके द्वारा बच्चो को भय और क्रोध के सयमन का अभ्यास होगा । उन्हें साहसपूर्ण अहिसात्मक प्रतिरोध सम्बन्धी कहानिया भी सुनानी चाहिए।

हमें नई अच्छी आदते उत्पन्न करने के साथ-साथ पुरानी हानि-कारक आदतो के छोड़ने का भी पूरा प्रयत्न करना चाहिए। प्रतिदिन हमें रोष और चिढ के अनेक अवसर आते होंगे। इन अवसरो से हमें आत्म-निग्रह का पाठ लेना चाहिए। कोई व्यक्ति किसी बात को समझ नही सकता, कोई व्यक्ति अपना वादा पूरा नहीं कर सकता, रेलवे के टिकिट मिलने मे देरी होती है, दूसरे आदमी की गाड़ी हमारी गाडी से टकरा जाती है, कोई बच्चा उधम करता है या कहना नही मानता, खेती बिगड़ जाती है, या व्यवहार मे हानि होती है, कोई व्यक्ति हमारे बाबत घृणासूचक शब्द कहता है, आदि ऐसे उदाहरण है जिनके विषय में यह सोचना उपयोगी होगा कि वे उसकी भूले है, (और यह भी सोचना चाहिए कि भूले तो हम से भी हो जाती है)। जानबूझकर किये हुए कार्य और स्वार्थ, लोभ, क्रूरता सम्बन्धी कार्य भी भूले ही है। ऐसी भावना से उन घटनाओ को सहन करने की वृत्ति उत्पन्न होगी। उन भूलो को सुधारने का यत्न करते जाना चाहिए। इसी प्रकार दूसरे व्यक्तियो की कार्यपध्दतियों के प्रति भी हमे सहिष्णुता-भाव रखना चाहिए।

अहिसक प्रतिरोधी के सामने प्राय. ऐसी समस्याए आयेगी कि किन सस्थाओं या प्रथाओ मे हमे सहयोग रखना चाहिए और किन से नही। उसे देखना पडेगा कि कौनसी महत्वपूर्ण है, और कौनसी नही। भीतरी विचार और बाहरी व्यवहार मे अन्तर नही होना चाहिए । दिखावट या ढोग से भी बचना चाहिए, और बिलकुल रूढ़िवादी भी न होना चाहिए । जीवन में उचित सन्तुलन रखने की आवश्यकता है।

अहिसक-प्रतिरोधी का जेल-व्यवहार कैसा होना चाहिए यह गांधीजी के लेखों से स्पष्ट ही है।

दरिद्र और सादा आदमियों के बीच में रहना अच्छा होता है, क्योंकि उनमे रहने से विचारो की स्पष्टता होने लगती है। संसार के अधिकांश मनुष्य गरीब ही है, इसलिए गरीबों में रहने से हम में मानवीय एकता की भावना सदा जाग्रत रहेगी। ससार के सभी महान उपदेशको ने सादा जीवन का बड़ा महत्व बनाया है।

यदि हम यह पूर्णत. अनुभव करलें कि प्राय. मतभेद शब्दों, प्रतीकों और चिन्हों के कारण होते हैं, तो बहुत सी गरमागरमी कम हो सकती है। प्राय: दो व्यक्तियों के मन मे किसी एक सज्ञा या विशेषण का अर्थ एकसा कभी नही होता, और दो दलो के बीच में तो बहुत ही कम होता है। आजकल के बहुत से झगड़े जो शब्दों, प्रतीको और चिन्हों के कारण है कम हो सकते हैं यदि ध्यानपूर्वक परिभाषायें निश्चित हो जाएं।

हमें दोषो की भी उपेक्षा करके गुणो की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए। यदि हमारी सद्भावना की कदर न की जाय तो हमें अपनी सद्भावना जारी रखनी चाहिए। इससे हमारे धैर्य की परीक्षा होगी। प्रेम से विजय होगी।

स्वावलम्बन, विचार और कार्य दोनो के स्वावलम्बन, की बड़ी आवश्यकता है। इसीलिए गाधीजी चर्खा चलाने पर जोर देते है। इससे व्यक्ति और राष्ट्र दोनो मे आंशिक स्वावलम्बन आता है।

सेवा और सहानुभूति के कार्य प्रायः करते रहना चाहिए। गरीबों की सेवा, किसानों, मजदूरों, अछूतो आदि की सेवा करते रहना चाहिए। इससे समानता और प्रेम की भावना बढती है।

अपने प्रतिरोध मे दृढ़ता बढाने के लिए हमें कई प्रकार के असहयोग या बहिष्कार करने चाहिए। हमें बुराइयों और अन्यायों से असहयोग करना चाहिए। हमें प्रथम तो अपनी बुराइयो—लोभ, पूंजीवाद के दूषित लाभ या दूषित धारणाओं, स्वार्थ, झूठा जात्याभिमान, नैतिक रोष, असहिष्णुता, मुकदमेबाजी आदि—को छोड़ना चाहिए। यह सूची सोचकर बढाई जा सकती है।

अपने सद्गुणों को भी निरन्तर बढ़ाते रहना चाहिए। अहिंसात्मक

प्रतिरोध के मूलभूत सिद्धांत है—सत्य, प्रेम, आध्यात्मिक एकता और समानता, नम्रता, सादगी, आत्मशुद्धि, स्वेच्छापूर्ण कष्टसहन आदि। इन सिद्धान्तो की खोज नित्यप्रति करते रहना चाहिए। अपनी कल्पना को सम्पूर्ण रूप से इनमें निमग्न और तन्मय कर देना चाहिए। नित्यप्रति इन्ही बातो का चिन्तन और अध्ययन करना चाहिए, और व्यवहार भी करना चाहिए। अपने पडोसियों से, विरोधियों और विदेशियों से भी प्रेम करने की कला सीखना चाहिए। इसके लिए बुद्ध, ईसा, गाधी आदि महापुरुषो के जीवनों से उदाहरण मिलेगे।

अहिसात्मक प्रतिरोधी सत्य सम्बन्धी अपने ही दृष्टिकोण पर कट्टर नही होता। वह अपने दृष्टिकोण की आत्म-कष्ट-सहन द्वारा परीक्षा करवाने को भी तैयार रहता है।

प्रेम के सिद्धान्त मे से ही दूसरों पर विश्वास करने का सिद्धान्त उत्पन्न होता है। हमें सब लोगों में अपने विरोधियों में और धोखा दे चुकने वालों में भी सद्‌वृत्तियों का अस्तित्व मानना चाहिए।

अहिसक प्रतिरोधी को खुश-मिजाज और प्रसन्नचित रहना चाहिए। इन गुणो से वह कठोर कट्टरता से बच जायगा और सब का प्यारा बन सकेगा।

: १६ :

सामूहिक शिक्षण और निग्रह

सन् १९३० के सविनय भंग के प्रारंभ के समय गांधीजी ने लिखा था :–

"कोई-भी विचार, चाहे वह अच्छा हो या बुरा, जमा हुआ तभी कहलायेगा जब वह सामान्य जनता की कल्पनाशक्ति में बैठ जायगा। यदि अहिसात्मक प्रतिरोध जनता को प्रभावित नहीं कर सकता तो व्यक्तियों के लिए भी उसका विकास करना शक्ति की बरबादी है। मैं .उसे ईश्वर का सर्वोत्तम वरदान समझता हूं। और ईश्वर के सभी वर-

दान उसकी समस्त सृष्टि की सामान्य सम्पत्ति है, न कि कुछ मठों में रहने वाले साधु-साधुनियों की। ऐसे लोग अहिंसा के विशेषज्ञ बन सकते हैं, वे हमें उसके आश्चर्यजनक प्रभाव का शिक्षण दे सकते है, किंतु यदि उनके आविष्कार और दावे सत्य हो तो वे जनता के व्यवहारयोग्य होने चाहिए। यदि सत्य केवल कुछ लोगों की सम्पत्ति नहीं है, तो उसीका दूसरा रूप अहिंसा भी केवल कुछ लोगों की वस्तु कैसे हो सकती है?"

जब समूहों द्वारा या राष्ट्रों द्वारा अहिंसा के प्रयोग का प्रश्न सामने आता है, तो तत्काल हमें नेताओं तथा शिक्षण, अनुशासन (निग्रह) और संगठन की आवश्यकता प्रतीत होती है।

अहिंसात्मक प्रतिरोध के नेता गंभीर और सावधानीपूर्वक विचार करने वाले तथा मानवप्रकृति के गहरे जानकार होने चाहिए। समाज में संयम की परिपक्वता होने पर ऐसे नेता अपने-आप उत्पन्न हो जाते हैं और अहिंसात्मक लड़ाई के बीच में ऐसे नेता लोगों में से ही निकल पड़ते हैं। अपने-अपने छोटे क्षेत्रों में काम करते हुए हमारा कर्तव्य है कि समय को परिपक्व बनाने और मार्ग तैयार करने का काम करते रहें। हम भी अपने-अपने ढंग से क्रोध और भय को मिटाने का यत्न कर सकते हैं। प्रत्येक प्रकार के संगठन की भांति इस कार्य में भी नेता अनुभव से, अनुशासन से और अध्ययन से शिक्षित हो सकते है। वास्तव में हम लोग तो अहिंसात्मक प्रतिरोध के संगठन की बहुत ही प्रारंभिक स्थिति में है। अभी तो हमें बहुत प्रयोग करने हैं और बहुत सीखना है।

सामूहिक नेताओं को सामूहिक विचार-क्रिया, झगड़े के अंगों का विश्लेषण और उसका हल निकालने के लिए अंगों के सामंजस्य करने आदि विषयों का अध्ययन करना चाहिए और हर प्रकार की जानकारी प्राप्त करनी चाहिए। अनुभव और निरीक्षण से भी ऐसी जानकारी प्राप्त हो जाती है और उचित पुस्तकों में भी प्राप्त हो सकती है।

अच्छे नेता सामान्य जनता को सदा काफी समय तक इस मार्ग का तात्पर्य समझने का अवसर देंगे, और स्पष्टीकरण के लिए कभी-कभी

छोटे-छोटे प्रदर्शन भी करेंगे। इस लंबे शिक्षण में बड़ी मात्रा में भाषणों, वादविवादों और लेखों की आवश्यकता होगी, और सब प्रकार की परिस्थितियों का भी प्रयोग किया जायगा, जिनमें उदाहरण-स्वरूप कई प्रकार के व्यक्तिगत या सार्वजनिक झगडों में किये हुये सत्याग्रह के प्रयोग भी होंगे। समझ कर और हलके प्रेरक कारणों द्वारा प्रभाव डालने के प्रयोग बुद्धिमत्ता और धैर्य के साथ किये जायगे। सामूहिक भावना को विकसित किया जायगा, और व्यक्तियों की भावना को भी विकसित किया जायगा।

गांधीजी सामूहिक सत्याग्रह की तैयारी के लिए जनता की, विशेषतः गरीबो की निःस्वार्थ सेवा को बहुत महत्वपूर्ण समझते है। उन्होने हाल में ही लिखा था:--

"रचनात्मक कार्यक्रम की आवश्यकता बारडोली--सरीखे छोटे-छोटे स्थानीय कष्टो के निवारणार्थ किये जाने वाले सविनय भंग के लिए नही है। वहा के लिए तो कोई भी सामान्यतः दृष्टिगोचर होने वाली स्थानीय तकलीफ ही यथेष्ट होती है। किन्तु स्वराज्य जैसे बडे प्रत्यक्ष अनुभूत न होने वाले प्रश्न के लिए तो अखिल भारतीय महत्व के कार्यों के करने का पूर्वशिक्षण आवश्यक होता है। ऐसे कार्य से जनता और नेताओं का सम्पर्क बढता है, और वे साथ मिल कर काम करते है। इससे जनता का विश्वास नेताओ पर जम जाता है। निरन्तर रचनात्मक कार्य करते समय जो विश्वास उत्पन्न हो जाता है वह संकट-काल मे भारी बल होता है। इसलिए रचनात्मक कार्य का वही महत्व है जो कि हिसात्मक युद्ध में कवायद आदि का होता है। जब लोग नेताओं को न जानते हों, या उन पर विश्वास न करते हों, या जहां जनता तैयार न हो, वहा व्यक्तिगत सत्याग्रह करना व्यर्थ है, और सामूहिक सत्याग्रह तो असम्भव वस्तु है। इसलिए रचनात्मक कार्य जितना अधिक किया जायगा, सत्याग्रह की उतनी ही सम्भावना हो जायगी।"

किंतु बारडोली के उदाहरण में भी, जिसका कि उल्लेख प्रथम अध्याय में आ चुका है, गांधीजी ने वहां किये हुए पांच-छ वर्ष के

रचनात्मक कार्य का महत्व माना है। ऐसी सामाजिक सेवा का प्रारंभ अपने पडोस में ही, अपने ही गाव या कस्बे मे किया जा सकता है। सेवाकार्य मे सत्य का निरन्तर पालन होना चाहिए।

कोई भी अहिसात्मक आन्दोलन, सत्यमूलक होने के कारण, केवल निषेधात्मक नही हो सकता। उसके साथ निश्चित रचनात्मक सुधार का कोई कार्यक्रम भी होना ही चाहिए। वह कार्यक्रम भी केवल बातचीत या भाषणो का नही, किन्तु हाथो से किया जाने वाला, तथा बालक वृद्ध, स्त्री और पुरुष आदि सबके करने योग्य होना चाहिए। और उससे जनता का कोई आर्थिक लाभ या वास्तविक हित होना चाहिए। ऐसा कार्य युग-युग और देश-देश के अनुसार भिन्न-भिन्न हो सकता है। ऐसे कार्य में लगे रहने से सत्याग्रहियों की शक्ति का उपयोग होता रहता है और उनके मन रोष या कटुता की उत्पत्ति से बचे रहते है।

अहिसात्मक प्रतिरोध का अभ्यास पहले छोटे-छोटे सरल निषेधो, बहिष्कारो या प्रतिरोधो से प्रारभ होना चाहिए। जितना आत्म-निग्रह या सामूहिक निग्रह होगा, उतना ही प्रतिरोध को बढाना चाहिए, लडाई को अधिक न बढ़ाना चाहिए। किन्तु यदि कभी सत्य और आत्मसम्मान का प्रश्न उपस्थित हो तो लडाई से डरना भी न चाहिए।

अहिसात्मक प्रतिरोध के तरीके की शुद्धता का ध्यान रखना चाहिए। लक्ष्य प्राप्ति के लिए कभी भी गलत तरीके का प्रयोग न करना चाहिए।

प्रतीको और चिन्हों का बड़ा प्रभाव पडता है। इसलिए ध्यान रखना चाहिए कि गलत प्रतीको और चिन्हों का प्रयोग न किया जाय। अहिसात्मक प्रतिरोध के लिए भी विशेष अवसरो पर किये जाने वाले रीति-रस्मो, जुलूसो प्रदर्शनो या सम्मेलनो का आविष्कार करना आवश्यक है।

अहिसात्मक प्रतिरोध के साधनों में आर्थिक बहिष्कार, असहयोग, हडताल, करबन्दी आदि भी है। कभी-कभी ये आवश्यक हो जाते है। इनका प्रयोग उचित बुद्धिमत्ता और उचित भावना के साथ ही करना चाहिए। इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिए कि बाह्यतः अहिसा-

त्मक रहते हुए भी कोई कार्य या उसका अंश आन्तरिक रूप में हिंसात्मक न हो जाय।

अहिंसात्मक प्रतिरोध की एक या अनेक असफलताओं से कभी निराश न होना चाहिए। अभी तो इस मार्ग की प्रारंभिक अवस्था है, और इसके विकास के क्रम में अनेक प्रयोग होने है। जिस प्रकार कि युद्ध के इतिहास में भी अनेक बार पलायन और पराजय हुए हैं, इसी-प्रकार इस मार्ग में भी यदि हों तो निराशा की कोई बात नहीं है। भविष्य मे दोषो को दूर करने की और शिक्षण की अधिक व्यवस्था करनी चाहिए।

संसार के भिन्न-भिन्न समूहों में संभवतः वे ही समूह जो पराधीन, पीड़ित और शोषित हैं जैसे कि एशिया और अफरीका की जातियां, तथा किसान मजदूर आदि—अहिंसात्मक मार्ग के नेता बनेंगे। संसार में जैसे-जैसे सत्य और न्याय का विस्तार होगा, और शांति का सच्चा मानसिक वातावरण तैयार होगा, वैसे-वैसे ही सच्ची शाति आने लगेगी, और फिर सच्चे राष्ट्रसंघ की नीव पड़ेगी। अभी तो इसके लिए बडी प्रारं-भिक और मनोवैज्ञानिक तैयारी करनी पडेगी। संभवतः अहिसात्मक प्रतिरोध या सत्याग्रह ही सच्ची शाति और न्याय को लाने वाला साधन बनेगा। प्रतीत होता है कि भविष्य मे अहिसा और प्रेम के आधार पर जो राष्ट्र बनेगा उसमें आजकल के किसी भी राष्ट्र की अपेक्षा स्वास्थ्य, सम्पन्नता, उचित आर्थिक विभाजन, स्वतंत्रता, उत्पादकता, कला और आनन्द अधिक होगा अभी तो अहिसा के क्षेत्र मे खोज और अनुसंधान की बड़ी आवश्यकता है। हम कट्टर मतवादी नही बन सकते। इस पुस्तक में तो अहिंसात्मक प्रतिरोध के महत्व और संभावानाओं का केवल दिग्दर्शन मात्र किया गया है। इससे तो अधिक इस तत्व के महान नेताओ और प्रयोजकों की वाणी और जीवन से सीखना चाहिए।

卐